ओ३म्

वेदों पर किये आक्षेप तथा उनका समाधान

वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालंकार

ओ३म्

वेदों पर किये आक्षेप तथा उनका समाधान

लेखक

वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार
पूर्व एसो० प्रोफेसर, रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

प्रकाशक	:	**श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास** 'अभ्युदय' भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग, स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३० चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९ Email-aryaprabhakar@yahoo.com
संस्करण	:	सन् २०१६
मूल्य	:	७०.०० रुपये
लेजर टाईपसेटिंग	:	**आर्य लेजर प्रिंट्स**, हिण्डौन सिटी, राजस्थान
मुद्रक	:	**राधा प्रेस**, कैलाश नगर, दिल्ली-११० ०३१

प्राक्कथन

क्या वेद ऋषियों की रचना हैं ?

इस विषय पर विद्वानों द्वारा पर्याप्त लिखा जा चुका है। अत: यहाँ उसका पिष्टपेषण नहीं किया जायेगा। संक्षेप में इतना कहा जाता है कि वेदमन्त्रों तथा सूक्तों के ऊपर जो विश्वामित्रादि ऋषि लिखे हुए हैं, वे उन मन्त्रों तथा सूक्तों के कर्त्ता नहीं हैं। वेदों का आविर्भाव तो सृष्टि के प्रारम्भ में ही अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरस् इन चारों ऋषियों पर हो गया था, किन्तु उन मन्त्रों के ऋषि तथा देवता पर्याप्त समय पश्चात् अन्य ऋषियों ने निर्धारित किये थे। इस कार्य में कात्यायन मुनि का नाम प्रमुख है। चार ऋषियों पर अनादि वेदवाणी का प्रकट होना कोई असम्भावित कल्पना भी नहीं है, क्योंकि अब भी कभी न कभी मनुष्यों के मन में स्वत: ही ऐसे भावों का प्रकटीकरण हो जाता है, जिनके विषय में उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था। कभी-कभी तो ये विचार अति संक्षिप्त रूप में रहते हैं तथा कभी-कभी कई-कई पंक्तियाँ भी इस रूप में अवतरित हो जाती हैं। ऐसे भावों या विचारों को दैवीय विचार कहा जाता है, जिसका भाव यही है कि ये विचार उस व्यक्ति के अपने मस्तिष्क की उपज न होकर किसी दैवीय शक्ति की ओर से ही हैं। कभी-कभी तो स्वप्न में भी व्यक्ति को इस प्रकार की प्रेरणा प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर एक घटना को प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा। घटना का वर्णन योगआश्रम मलपुरा मु० नगर (उ०प्र०) के अध्यक्ष स्वामी योगीराज धर्मप्रकाश जी ने 'ज्ञानप्रकाश' नामक पुस्तक में इस प्रकार किया है—"मार्च १९५७ में रात्रि में जब मैं सोया हुआ था, तो स्वप्न में श्री गुरु महाराज जी आये। मेरे वर्त्तमान और भविष्य की सब बातें बतलायीं तथा नूरपुर पहुँचने की प्रेरणा दी। मेरे जीवन की यह अलौकिक घटना थी। गुरु महाराज जी की आयु ६५ वर्ष थी, तभी मैं नूरपुर (पंजाब) उनके चरणों में पहुँचा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ग्राम मलपुरा (मु० नगर) से मैं जब नूरपुर गया, तो सर्वप्रथम स्टेशन से उतर कर आश्रम के सामने ही आपके दर्शन हुए और वह मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।" जब एक लौकिक गुरु ने भी स्वप्न में ही प्रेरणा देकर अपने शिष्य को उत्तरप्रदेश से पंजाब बुला लिया, तो सर्वव्यापक, सबके हृदय में सर्वदा विद्यमान परमेश्वर पूर्ण पवित्र ऋषियों के हृदय में ज्ञान की प्रेरणा कैसे नहीं कर सकता? प्रसिद्ध

वैज्ञानिक मार्कोनी जिसने बेतार के तार का आविष्कार किया, उससे किसी ने पूछा कि आपको ये विचार किस वैज्ञानिक प्रयोग के द्वारा सूझे, तो मार्कोनी ने उत्तर दिया कि किसी भी प्रयोग से नहीं, अपितु बस अचानक ही मेरे मस्तिष्क में ये विचार आ गये। इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं जिससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति को दैवीय प्रेरणा होती है।

वेदमन्त्रों पर जो ऋषि लिखे हैं, उनमें से कुछ तो उन ऋषियों के नाम हैं जिन्होंने उन मन्त्रों के अर्थों पर विचार किया, किन्तु सभी ऋषि ऐसे नहीं हैं।

(१) अनेक मन्त्रों में पठित किसी शब्दविशेष के आधार पर ही मन्त्रों का वैसा ऋषि कल्पित कर लिया गया।

(२) कहीं-कहीं पर मन्त्र में प्रतिपादित विषय को सिद्ध करने के साधन का ही ऋषि रूप में उल्लेख है।

यहाँ हमारा उद्देश्य ऋषितत्त्व पर विचार करना नहीं, अपितु यह बतलाना है कि सृष्टि की आदि में परम पवित्र ऋषियों के हृदय में स्वत: स्फुरित दैवीय ज्ञान ही वेद है। इनका संग्रह विभिन्न ऋषियों द्वारा लम्बे समय तक नहीं किया जाता रहा है, जैसा कि विदेशी विद्वान् मानते हैं। अंग्रेजों के भारत में शासन से पहले तक सभी भारतीय भी इसी विचारधारा के पोषक थे कि वेद सृष्टि की आदि में ऋषियों पर प्रकट हुआ ज्ञान है। सभी दर्शन शास्त्र, सभी स्मृतियों तथा अन्य समस्त प्राचीन वाङ्मय, आद्य शंकराचार्य आदि सभी विद्वान् तथा प्राचीन संस्कृत वाङ्मय एक स्वर से इसी विचारधारा के पोषक थे। भारत में अंग्रेजी शासन के समय सर्वप्रथम विदेशी विद्वानों ने ही ऐसा प्रचारित किया कि वेद दैवीयवाणी न होकर विभिन्न ऋषियों द्वारा समय-समय पर संगृहीत किया जाने वाला काव्य है। इनमें से कुछ ने तो इस काव्य को अधम तथा घटिया भी कहा। ऐसा कहने के दो कारण थे। प्रथम तो यह कि वे विदेशी विद्वान् भारतीय परम्परा से परिचित ही नहीं थे। वे वेदों के शुद्ध अर्थों को जान ही नहीं पाए, केवल ऊपरि सतह तक मन्त्रों का शाब्दिक अर्थ करके उन्होंने ऐसी धारणा बनायी। वेद में जो जमदग्नि, कश्यप, कृष्णा, अर्जुन, युधिष्ठिर, वसिष्ठ, पुरूरवा, उर्वशी आदि ऐसे शब्द प्राप्त हुए जो लोक में विभिन्न व्यक्तियों, राजाओं तथा ऋषियों आदि के वाचक हैं, तो उन्होंने इनके वास्तविक अर्थ न जानकर कहना प्रारम्भ कर दिया कि वेदों में इन लौकिक व्यक्तियों के नाम भरे पड़े हैं। अत: वेदों में इतिहास है तथा इनका संग्रह वेदों में उपलब्ध नाम वाले व्यक्तियों के बाद तक होता रहा है।

वस्तुत: ऐसा नहीं था। तथ्य इसके विपरीत थे। वेदों में उपलब्ध उक्त नाम तथा अन्य भी इस प्रकार के सभी नाम लौकिक व्यक्तियों के वाचक

न होकर विशेष-विशेष अर्थों में प्रयुक्त हैं। ऐसे नामों तथा संवाद सूक्तों का विवेचन हमने अपने 'वैदिक शब्दार्थविमर्श' तथा 'वैदिक इतिहास-विमर्श' नामक दो ग्रन्थों में किया है। यहाँ केवल एक-दो नामों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। वेदों में पठित उर्वशी के लिए प्रमाण भूत आचार्य यास्क कहते हैं—उर्वशी अप्सरा अप्सारिणी। अर्थात् विद्युत् ही उर्वशी है। इसी प्रकार पुरूरवा के लिए कहते हैं—पुरूरवा बहुधा रोरूयते। अर्थात् बादल ही पुरूरवा है, क्योंकि वह बहुत गरजता है तथा बादलों में रहने वाली विद्युत् ही उर्वशी है। वेद के सभी शब्दों के अर्थ इसी प्रकार किये जाने चाहिये थे, किन्तु विदेशी विद्वानों ने इस ओर ध्यान न देकर इन शब्दों के लोक में प्रसिद्ध अर्थ करके अर्थ का अनर्थ कर दिया।

(२) इस कार्य में उन विद्वानों का अज्ञान तो कारण था ही, इसके साथ ही उनका पूर्वाग्रह भी बहुत बड़ा कारण था। वे लोग ऐसा मानकर ही चले थे कि वेदों में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास तथा अश्लीलता, नरबलि, पशुबलि, मद्य-मांसादि का विधान, जादू-टोना आदि सभी कुछ हैं। इस कार्य में महीधर तथा सायणाचार्य आदि भारतीय विद्वानों के वेदभाष्य भी उनके सहायक बने।

(३) इसका तीसरा कारण यह था कि अंग्रेजों को भारत में अपना शासन सुदृढ़ करना था तथा यह सत्य है कि किसी भी देश की भाषा तथा संस्कृति को नष्ट किये बिना वहाँ के निवासियों को लम्बे समय तक मानसिक दास नहीं बनाया जा सकता। अंग्रेजों ने, विशेषकर मैकाले ने इस योजना को अति कुशलता से लागू किया जिससे कि भारतीयों की अपनी प्राचीन देवभाषा संस्कृत, पुरातन संस्कृति तथा वेदादि प्राचीन वाङ्मय से श्रद्धा समाप्त हो गयी। उसी का व्यापक परिणाम आज सर्वत्र देखा जा सकता है।

उक्त विचारों को क्रियान्वित करने के लिए विदेशी विद्वानों ने वेदों के भाष्य जानबूझकर ऐसे ही किये कि जिससे वेद एक सामान्य स्तर की तथा कहीं-कहीं तो अति निम्न स्तर की पुस्तक सिद्ध हो सके। उनकी दृष्टि इनके अर्थ गाम्भीर्य पर नहीं जा सकी। इनमें मैक्समूलर का स्थान सर्वोपरि है। इस विषय में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉ० सूर्यकान्त लिखते हैं—"एक दौर चल रहा है जो क्षणिक उपलब्धियों की चमक में बौराकर शाश्वत विधि की अवहेलना में आधुनिकता की चाँदनी देखता है। इन सबसे टक्कर लेनी होगी, इन सब पर विजय पानी होगी।"[१]

विदेशी विद्वानों ने तो वेदों तथा सर्वप्राचीन वैदिक संस्कृति के

१. वेदों का समीक्षात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ० xi

विषय में अनर्गल विचार अपने अज्ञान, पूर्वाग्रह तथा राजनैतिक कारणों से किये थे, इससे भी दुःखद बात यह हुई कि भारतीय विद्वानों ने भी उनकी स्थापनाओं तथा विचारों का अनुमोदन करने में गर्व समझा। इसका कारण उस समय वेदों के पठन-पाठन की परम्परा भारत में समाप्त-सी हो गयी थी। वेदों को केवल कण्ठस्थ किया जाता था-जनता उनके अर्थों से अनभिज्ञ थी। ऐसे में विदेशी विद्वानों ने जो कुछ लिखा, उसे बिना सोचे-समझे ही मान लिया गया। विदेशियों ने अपना साहित्य अंग्रेजी में ही लिखा था तथा भारत में भी मैकाले की योजना से अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बनकर सत्ता में आ चुकी थी। अत: अंग्रेजी जानने वाले भारतीय विद्वानों ने भी पाश्चात्यों के अंग्रेजी ग्रन्थ पढ़कर उन सब बातों को स्वीकार कर लिया जिनका प्रतिपादन विदेशी लेखकों ने किया था। इस सम्बन्ध में सर्वथा मिथ्या बातों का प्रचार-प्रसार भी किया गया। यथा—आर्य लोग भारत में बाहर से आये। उन्होंने यहाँ युद्ध करके भारत के आदिवासियों को दक्षिण की ओर भगा दिया। वेद सृष्टि की आदि में आविर्भूत ज्ञान नहीं है, अपितु ई०पू० ३००० वर्ष तक संगृहीत किये हुए अनर्गल एवं अस्पष्ट मन्त्र हैं, जिनके बनाने वाले भी निम्नस्तरीय भेड़ चराने वाले गडरियों जैसे व्यक्ति थे। वेदों में बहुत कुछ ऊलजलूल तथा निन्दनीय बातें पायी जाती हैं। वैदिक भाषा से पहले भी एक भाषा थी, जिसको भारोजीय नाम दिया गया। भारत कभी भी एक राष्ट्र नहीं रहा तथा त्रेता, द्वापर आदि युग केवल काल्पनिक हैं, इत्यादि अनेक मिथ्या एवं कपोल-कल्पित बातों का प्रचार-प्रसार विदेशियों ने किया। अपने अज्ञान, अंग्रेजी से मोह तथा परतन्त्रता के कारण भारतीय मनीषियों ने विदेशियों की इस प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को स्वीकार कर लिया। उदाहरणार्थ, महात्मा गाँधी भी कहा करते थे कि रामायण तथा महाभारत युद्ध केवल कल्पना है। सफेद झूठ तथा इतिहास के प्रति अज्ञानता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।[१] वेदों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार पाश्चात्यों की अनेक भ्रामक बातों को भारतीयों ने स्वीकार कर लिया था।

स्वतन्त्र भारत में इन सब बातों पर पुनर्विचार प्रारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भ पराधीनता के समय महर्षि दयानन्द ने ही कर दिया था। स्वामीजी अंग्रेजी पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु वेदों तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का गम्भीर आलोडन किया तथा कई ऐसी घोषणाएँ कीं जो उस समय किसी विस्फोट से कम न थीं, किन्तु सत्य का विस्फोट हुआ तथा वह विस्फोट की गति से ही जनता में बढ़ता

१. डॉ० मनमोहन सिंह के प्रधानमन्त्रित्व में यू०पीए० सरकार ने रामसेतु विवाद में न्यायालय में शतथपत्र देकर कहा था कि राम कभी हुए ही नहीं।

चला गया। स्वामीजी ने अकाट्य प्रमाण देकर कहा कि—

(१) आर्य ही भारत के मूल निवासी हैं। किसी भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में नहीं लिखा कि आर्य बाहर से आए।

(२) वेद सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि चार ऋषियों पर प्रकट होने वाला दैवीय ज्ञान है।

(३) वेदों में न तो लौकिक इतिहास है तथा न ही लौकिक व्यक्तियों के नाम हैं।

(४) वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं।

(५) वेदों में कहीं भी सृष्टिविरुद्ध कोई बात नहीं है तथा न ही कोई ऐसी बात है जिसे मिथ्या सिद्ध किया जा सके।

(६) वेद ज्ञान-विज्ञान के भण्डार तथा सभी सत्यविद्याओं की पुस्तक हैं।

(७) आदिसृष्टि त्रिविष्टप (तिब्बत) पर हुई।

आज महर्षि की उक्त सभी मान्यताएं स्वीकार करली गयी है। यद्यपि आधुनिक समय में अनेक विद्वानों ने अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर तथा वेदभाष्य करके वेदों में नाना विद्याओं का प्रतिपादन एवं पाश्चात्यों की उक्त मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन किया है, तथापि इन विद्वानों के ग्रन्थों को न पढ़ कर अथवा पढ़कर भी अपने दुराग्रहवश अनेक दोष वेदों पर लगाते ही रहते हैं।

वेदों के सम्बन्ध में शंका या आक्षेप करने वाले प्रथम कोटि के ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें वेदों तथा वैदिक संस्कृति का अधिक ज्ञान नहीं है। सुन-सुना कर या पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित व्यक्तियों का साहित्य पढ़कर उनके मन में वेदों के सम्बन्ध में नाना शंकाएँ होती हैं। ये लोग जिज्ञासु होते हैं तथा सत्य को जानने के लिए ही विभिन्न प्रकार की शंकाएँ करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की शंकाओं का समाधान होना ही चाहिए, तभी वे वेदों तथा वैदिक संस्कृति की ओर उन्मुख होंगे।

दूसरी कोटि के वे लोग हैं, जो वेदों तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में जानबूझकर विपरीत धारणाएँ रखते हैं तथा अनेक प्रकार के आक्षेप वेदों तथा प्राचीन वैदिक संस्कृति के विषय में करते रहते हैं। ऐसे लोगों के आक्षेपों का आधार विदेशी विद्वानों तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के विचार एवं वेदभाष्य आदि ही है, ये लोग स्वयं भी प्रबुद्ध वर्ग से हैं तथा शिक्षा संस्थानों से भी जुड़े हुए हैं। ऐसे व्यक्ति विशेष रूप से साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। विडम्बना यह है कि इतिहास लेखन पर लगभग इनका ही आधिपत्य है। इन सुख्यात इतिहास लेखकों ने अपनी इतिहास विषयक पुस्तकों में अनेक दोष वेदों तथा प्राचीन वैदिक संस्कृति पर लगाये हैं। इस क्षेत्र में दिल्ली

विश्वविद्यालय के प्रो० रामसरण शर्मा, प्रो० डी० एन० झा, प्रो० रोमिता थापर जैसे इतिहासज्ञों के नाम प्रमुख हैं।* इनके अतिरिक्त राजनीतिक स्तर पर भी वामपन्थी विचारधारा के पोषक व्यक्ति वेदों तथा वैदिक संस्कृति पर आक्षेप करते ही रहते हैं। इन सभी वर्गों के द्वारा वेदों के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के आक्षेप या शंकाएँ उपस्थित की जाती हैं—

(१) वेदों में ऋषि-मुनियों तथा राजओं आदि का इतिहास विद्यमान है तथा इनके विषय में आख्यान एवं संवादसूक्त विद्यमान हैं।

(२) वेदों के अनेक मन्त्र अश्लीलता के प्रतिपादक हैं। प्रजापति का स्व दुहितृगमन तक वेदों में है।

(३) अथर्ववेद में जादू-टोना, मारण, वशीकरण आदि का प्रतिपादन किया गया है।

(४) वेद मन्त्रों का संग्रह पर्याप्त लम्बे समय तक किया जाता रहा है। अनेक कवियों ने मिलकर इनकी रचना की है।

(५) वेदों में मांस भक्षण, मद्यपान, जुआ आदि का प्रतिपादन किया गया है तथा प्राचीन आर्य मांस, मद्य आदि सभी का सेवन करते थे। वे चारित्रिक दृष्टि से भी पतित थे तथा गोमांस भी खाते थे।

(६) प्राचीन समय में यज्ञों में भी गाय, घोड़ा, बकरा आदि पशुओं का मांस डाला जाता था। गोमेध, अश्वमेध, अजामेध आदि यज्ञ इसके प्रमाण हैं।

(७) वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है, तथा प्राचीन आर्य अग्नि, वायु आदि जड़ पदार्थों को भी देव मानकर इनकी स्तुति किया करते थे। एक प्रकार से वेद जड़पूजा एवं बहुदेववाद के प्रतिपादक हैं।

(८) वेदों में पुत्र की ही कामना की गयी है, पुत्रियों की नहीं।

ऐसी बात नहीं है कि वेदों पर ये आक्षेप अभी लगाये जा रहे हैं। इससे पहले भी अनेक लोगों ने ऐसा किया है। इसका प्रमुख कारण वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को न जानना है। महीधर तथा उव्वट तथा सायण आदि प्राचीन भाष्यकारों ने जो अर्थ वेदों के कर दिये, उनके आधार पर ही आक्षेप कर्त्ताओं ने विभिन्न प्रकार के आक्षेप वेदों पर किये हैं। आक्षेप ही नहीं, अपितु चार्वाक ने तो यहाँ तक भी कहा था कि 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्त्तनिशाचरा:।' अर्थात् भाण्ड, धूर्त्त तथा निशाचर ही वेदों के रचयिता हैं। वस्तुत: वेदों के अशुद्ध अर्थ करने पर ऐसा ही आभास होता है।

महात्मा बुद्ध के समय यज्ञों में पशुहिंसा की जाती थी तथा उसे वेदसम्मत बतलाया जाता था। महात्मा बुद्ध ने इस कुकृत्य का विरोध

* इस सम्बन्ध में डॉ० 'झा' ने Beef Eating in Ancient India नामक पुस्तक भी लिखी है।

किया तो उन्हें कहा गया कि ऐसा करना तो वेदों में लिखा है। महात्मा बुद्ध ने साहस पूर्वक कहा कि मैं ऐसे वेदों को नहीं मानता। बुद्ध ने वेद नहीं पढ़े थे। अत: उन्होंने ऐसा कह दिया। यही प्रश्न महर्षि दयानन्द के समक्ष भी उपस्थित हुआ तो उन्होंने महात्मा बुद्ध के समान वेदों को मानने से इनकार नहीं किया, अपितु घोषणा की कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान निहित है। महर्षि दयानन्द वेदों तथा व्याकरण के परम विद्वान् थे। इसीलिए वे ऐसी घोषणा कर सके। महर्षि दयानन्द ने यास्क मुनि की पद्धति पर वेदभाष्य करते हुए उव्वट-महीधर तथा सायणाचार्य आदि भारतीय तथा मैक्समूलर आदि विदेशी विद्वानों के वेदभाष्यों का खण्डन भी किया है, जिनके आधार पर वेदों पर तरह-तरह के आक्षेप किये जाते रहे हैं। महर्षि दयानन्द तथा यास्क मुनि के अनुसार वेदार्थ करने पर वेदों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप नहीं लग सकता। इस लघु पुस्तिका में ऐसे सभी आक्षेपों का निराकरण किया गया है।

—रघुवीर वेदालङ्कार

बी-२६६, सरस्वती विहार
दिल्ली-११० ०३४
चल० ०९८६८१४४३१७
दूर० ०११,२७०११३१७

विषय-सूची

वेद शब्द के धात्वर्थ

वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है। यह धातु चार विभिन्न अर्थों को धारण करती है। यथा—(१) **विद् सत्तायाम्**, (२) **विद् ज्ञाने**, (३) **विद् विचारणे**, (४) **विदलृ लाभे**। इन चारों अर्थों पर विचार करते हैं। प्रथम धातु '**विद् सत्तायाम्**' से बने वेद शब्द का तात्पर्य है कि वेद कभी भी नष्ट नहीं होते। प्रलयावस्था में भी वेदज्ञान सुरक्षित रहता है। प्रश्न है कि प्रलय में तो सभी कुछ नष्ट हो जायेगा तो वेद किसके आश्रय से सुरक्षित रहेगा? इसका उत्तर है कि वेद का ज्ञान परमेश्वरीय ज्ञान है। अत: वह प्रलय में भी नष्ट नहीं होता। ज्ञान तथा ज्ञानी का सम्बन्ध शाश्वत है। अत: प्रलय में भी वेदज्ञान नष्ट नहीं होता। तब भी उसका आश्रय परमेश्वर रहता है। जिस प्रकार प्रलयावस्था में समस्त जगत् का प्रपञ्च सिमट कर अपने मूल कारण प्रकृति के रूप में स्थिर रहता है, नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वेद ज्ञान भी शाश्वत है। इसकी सत्ता सर्वदा बनी रहती है। अन्य जितनी भी मजहबी ज्ञान की पुस्तकें हैं, उनकी यह स्थिति नहीं है। वे सब मनुष्यों की कृतियाँ हैं तथा कभी न कभी अवश्य ही नष्ट हो जाती हैं या रूपान्तरित हो जाती हैं। वेदज्ञान न तो नष्ट होता है तथा न ही रूपान्तरित होता है।

दूसरी धातु **विद् ज्ञाने** है। यह वेद की ही विशेषता है कि इसे ज्ञान कहा गया। संसार में अन्य किसी भी पुस्तक को ज्ञान नाम नहीं दिया गया। उनके लोकप्रचलित नाम अलग-अलग ही हैं। वेद को ज्ञान कहना भी रहस्य पूर्ण है। ज्ञान है तो इसका धारक ज्ञानी भी होगा। बिना ज्ञानी के ज्ञान स्वत: स्थिर नहीं रह सकता। ज्ञान का अर्थ ऐसा शुद्ध ज्ञान है जिसमें अज्ञान, अविद्या का जरा-सा भी अंश न हों, साथ ही वह ज्ञान पूर्ण भी हो। वेदज्ञान अपने आप में पूर्ण है। सभी सत्य विद्याएँ इसमें निहित हैं। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने वेदों को सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक कहा है। अन्य सभी पुस्तकें एकांगी या एकदेशीय हैं। यह पूर्ण एवं सत्यज्ञान किसी लौकिक व्यक्ति का नहीं हो सकता, क्योंकि संसार में कोई भी पूर्ण ज्ञानी नहीं है। इस ज्ञान का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में माना जाता है। इसीलिए इसे परमेश्वरीय ज्ञान माना जाता है, क्योंकि एक मात्र परमेश्वर ही तब विद्यमान था। उसके द्वारा ही अग्नि आदि चार ऋषियों के स्वच्छ हृदय में इस ज्ञान का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार परमेश्वर ही वेदज्ञान का आविर्भावक एवं विश्व का आदि गुरु है। इसी बात को

पतञ्जलि इस रूप में कह रहे हैं—"**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**" (यो० सू० १।२६)

वेद की तृतीय धातु 'विद् विचारणे' है। इसका अर्थ है कि वेद ज्ञान विचारणीय है, इस पर आदि सृष्टि से ही विचार होता रहा है। पहले ऋषि-मुनियों ने भी इस पर विचार अर्थात् गहन चिन्तन करके संसार के सामने नाना विद्याओं तथा शास्त्रों को प्रकट किया। अभी भी वेदों पर विचार, अनुसन्धान हो रहे हैं तथा भविष्य में भी होते रहेंगे। इस वेदोदधि का जो भी जितना भी मन्थन करेगा, उसे उसी मात्रा में मौलिक विचार प्राप्त होंगे।

विद् विचारणे का यह भी अर्थ है कि वेदों में जो कुछ कहा गया है, विचार=बुद्धिपूर्वक कहा गया है। ऐसी कोई बात वेदों में नहीं है, जो बुद्धि तथा प्रत्यक्ष के प्रतिकूल है। वेद की सभी बातें सृष्टिक्रम तथा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों के अनुकूल हैं। इसीलिए कणाद मुनि ने लिखा है—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।

अर्थात् वेद में सभी बातें बुद्धिपूर्वक कही गयी हैं। संसार में प्रचलित किसी भी धर्म या मजहब की पुस्तकें इस कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। यथा—बाइबिल, जो ईसाइयों का धर्मग्रन्थ है तथा जिसे विश्व की अधिकांश जनता मानती है, उसमें लिखा है कि पृथिवी चपटी है। यह सरासर गलत है। पृथिवी गोल है तथा यह सूर्य के चारों ओर घूमती है, वेदों में ऐसा ही लिखा है। वेद को छोड़कर कोई भी ज्ञान पूर्ण तथा निर्भ्रान्त नहीं है।

वेद की चतुर्थ धातु '**विदलृ लाभे**' है। इसकी सार्थकता इसमें है कि हम वेद से सभी प्रकार के लाभ की वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। सांसारिक या पारलौकिक मोक्ष आदि कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसकी प्राप्ति वैदिक ज्ञान से न होती हो। वेदों में विज्ञान, परिवार, सम्मान, कृषि, राजनीति, शिल्प, चिकित्सा, शिक्षा, व्यापार आदि ऐसे सभी विषयों पर प्रकाश डाल दिया गया है, जो सांसारिक जीवन एवं लौकिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। इसके साथ ही आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी पारलौकिक ज्ञान भी वेदों में पर्याप्त रूप में विद्यमान है। सांसारिक पुस्तकों में ऐसा नहीं होता। विश्व में कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसमें अभ्युदय तथा निःश्रेयस् का ज्ञान समाविष्ट हो। कुछ में आध्यात्मिक उपदेश हैं, तो अधिकांश पुस्तकों में लौकिक विद्याएँ ही हैं। वेद ही ऐसा है, जो हमें दोनों लोकों की विद्याओं का ज्ञान कराता है। इसीलिए सायणाचार्य ने वेद के विषय में यह कहा है—

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारार्थमलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः।

अर्थात् इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के निवारणार्थ अलौकिक उपायों

को बतलाने वाला ग्रन्थ वेद है। वेद इनके लिए केवल अलौकिक ही नहीं, अपितु लौकिक उपाय भी बतलाता है।

वेदज्ञान शाश्वत तथा अपरिवर्त्तनशील है

कई बार प्रश्न किया जाता है कि पुरानी वस्तु के अधिक पुरानी हो जाने पर उसके नवीकरण की आवश्यकता पड़ती है। यह मान भी लिया जाए कि वेदज्ञान सृष्टि के आदि में दिया गया, किन्तु आज तो सृष्टि को बने लाखों वर्ष हो गये। वह ज्ञान पुराना हो गया। इसीलिए मुहम्मद साहब के ऊपर खुदा ने कुरान के रूप में नया ज्ञान उतारा है। मुसलमान भाई यही दावा करते हैं कि खुदा की ओर से ही हजरत पर कुरान की आयतें उतरीं। स्वयं मुहम्मद साहब का भी यही कथन था।

यदि ऐसा माना जाए तो कुरान को ही अन्तिम ज्ञान क्यों माना जाए। इसके बाद भी खुदा या परमेश्वर अपने ज्ञान में संशोधन करके किसी अन्य के ऊपर उसे उतार देगा, किन्तु मुस्लिम बन्धु ऐसा मानने को तैयार नहीं। उनके अनुसार कुरान ही अन्तिम है। इसके बाद कोई ज्ञान नहीं उतरेगा। यह तो बड़ी ही पक्षपात की तथा तर्कहीन बात हो गयी कि जब अब तक ऐसा होता आया है, तो आगे क्यों नहीं होगा। दूसरे कुरान का मिलान यदि वेदों से किया जाए तो कोई भी नहीं कह सकता कि परमेश्वर का ज्ञान यही है, जो कि कुरान में वर्णित है। कुरान में पशुओं की बलि भी है, मांसाहार का भी आदेश है तथा कुरान पर ईमान न लाने वालों के वध का भी आदेश है। कुरान जिस पर उतरी, वे मुहम्मद साहब स्वयं तलवार हाथ में लेकर विधर्मियों के साथ लड़े। उन्होंने जीवन में दश से भी अधिक विवाह किये। यह जीवन तो एक सामान्य व्यक्ति का जीवन है। इधर अग्नि आदि चार ऋषियों पर ऐसा कोई आक्षेप नहीं। एक बात यह भी दमदार है कि परमेश्वर नित्य पवित्र सदा एकरस है। वह जन्म-मरण से रहित, अपरिवर्त्तनशील है। अतः उसका ज्ञान भी उसके समान ही नित्य, पवित्र, सृष्टि के नियमानुकूल तथा उसका उपकारक होगा। ऐसा ज्ञान केवल वेद ही है। वह पूर्ण ज्ञान है तथा अपरिवर्तनीय है।

वेदों में मांसभक्षण तथा गोवध आदि पर विचार

यह प्रश्न बार-बार किया जाता है कि क्या वेदों में गो आदि प्राणियों के वध एवं मांसभक्षण का विधान है या नहीं तथा गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञों में इन पशुओं की हत्या की जाती थी या नहीं। कुछ आधुनिक इतिहासकार मानते तथा लिखते रहते हैं कि प्राचीनकाल में आर्य सुरा तथा मांस आदि का उपयोग करते थे। गोमेध आदि यज्ञों में भी इन पशुओं का वध होता था तथा वेदों में भी इस सबका विधान है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार से आक्षेप करने वाले इतिहासकारों तथा अन्य व्यक्तियों ने न तो मूल वेद पढ़े हैं, न ही उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति-सभ्यता तथा आर्यों के जीवन की वास्तविकता का ज्ञान है। ऐसे लोगों ने केवल सायण-महीधर आदि के वेदभाष्यों के अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर ही ऐसी धारणा बनायी है। ये लोग तो प्राचीन भारतीय महापुरुषों की सत्ता तक से इन्कार करते हैं। इनके अनुसार राम एवं रामायण काल सभी कुछ काल्पनिक है, वास्तविकता नहीं। ये लोग पाश्चात्य संस्कृति तथा पाश्चात्य विद्वानों के लेखन से भी प्रभावित हैं तथा उनके आधार पर ही अपनी बात करते हैं।

जहाँ तक गो आदि पशुओं के वध तथा मांसभक्षण, सुरापान आदि का प्रश्न है, वह आज भी होता है, यदि यही हाल रहा तो आगे भी होता रहेगा तथा पुराने समय में भी होता था।

हम यहाँ पुराने समय को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यह समय महाभारत के आस-पास का ही है। महर्षि दयानन्द ने महाभारत युद्ध से एक सहस्र वर्ष पहले से आर्यों के पतन का काल माना है। यह और भी कुछ कम-अधिक हो सकता है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि अति प्राचीनकाल में यह सब कुछ नहीं होता था। महाभारत काल तो सभी प्रकार से नैतिक पतन का काल है। तब तो जुआ भी खेला जाता था, मद्य भी पर्याप्त पी जाती थी, मांस भी खाया जाता था। देवीपूजा के नाम पर नरबलि भी दी जाती थी। स्त्रियों का अपहरण भी होता था, यज्ञों का विध्वंस भी होता था तथा सम्भव है कि तभी यज्ञों में भी गो-अश्व-बकरा आदि पशुओं के मांस की आहुति दी जाती थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि महाभारत काल में सभी व्यक्ति ऐसे मर्यादानाशक हो गये थे। तब भी महाराज युधिष्ठिर जैसे धर्मराज, श्रीकृष्ण जैसे योगिराज, पितामह भीष्म

जैसे ब्रह्मचारी, कर्ण जैसे दानवीर, विदुर जैसे महाज्ञानी, पाणिनि तथा पतञ्जलि जैसे महाविद्वान् विद्यमान थे। हाँ, दुष्टों के संख्या में वृद्धि हो रही थी। इनमें सामान्य जन ही नहीं, अपितु शक्तिशाली राजा भी थे। मगध का राजा जरासन्ध, मथुरा का राजा कंस तथा हस्तिनापुर का युवराज दुर्योधन इनमें प्रमुख थे। जरासन्ध ने तो देवी पर चढ़ाने के लिए राजाओं के सिर काट-काट कर भी अपने यहाँ एकत्रित कर रखे थे। दुर्योधन तथा कंस के कार्य तो सुप्रसिद्ध हैं ही। जैसा राजा वैसी प्रजा, यह कहावत असत्य नहीं है। अतः प्रजा के अधिकांश लोग भी इनका अनुसरण करते थे। ये सभी आसुरी विचारधारा के समर्थक एवं प्रसारक थे। इस विचारधारा के प्रसार का उपाय बतलाते हुए कंस के परामर्शदाता उससे कहते हैं कि हे राजन्! यदि वेद, ब्राह्मण तथा गोभक्तों को पराजित करना चाहते हो, तो पूरी शक्ति से ब्रह्मचारी, वेदभक्त विद्वानों, यज्ञप्रिय ब्राह्मणों तथा गायों की हत्या करवाओ।[१] इससे बड़ा राक्षसीय कार्य अन्य क्या हो सकता है। रामायण काल में भी रावण कहता है कि स्त्रियों का शीलहरण, मद्य, मांस आदि तो राक्षसों के परमधर्म हैं। इसलिए यह तो सुनिश्चित है कि ऐसे राक्षस सदा से ही रहे हैं, किन्तु ऐसा नहीं कि इनका विरोध न किया गया हो। रामायण काल में श्री राम प्रतिज्ञा करते हैं— निशिचरहीन करों मही भुज उठाय प्रण कीन्ह। इसी प्रकार महाभारत काल में श्री कृष्ण घोषणा करते हैं कि सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म की स्थापना के लिए ही पुनः पुनः जन्म लेता रहता हूँ। महाभारत के पश्चात् किसी ने ऐसी घोषणा नहीं की। अब तो राजकीय स्तर पर पशुवध तथा मांसभक्षण तथा मद्यपान का प्रचार-प्रसार किया जाता है। पूरे भारत में कितनी मद्य पी जाती होगी, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी नववर्ष पर करोड़ों की शराब अकेले दिल्ली वाले ही गटक जाते हैं। पशुवध के लिए तो आज स्वचालित यान्त्रिक वधशालाएँ स्थापित की जा रही हैं।

इसलिए हम यह नहीं कहते कि अब से पहले पशुवध, मद्यपान, मांसभक्षण, अपहरण, यज्ञों में मांसाहुति आदि के घृणित कार्य नहीं होते थे। हमारा प्रतिपाद्य केवल इतना है कि बहुत प्राचीन काल में ये कार्य नहीं होते थे। यदि होते भी थे, तो ऐसे लोगों को राक्षस कहा जाता था, जैसा कि रावण को कहा गया, किन्तु कंस तथा जरासन्ध आदि को राक्षस नहीं कहा गया, क्योंकि तब इन कार्यों का प्रचार अधिक हो गया था। इसके

१. तस्मात् सर्वात्मना राजन्! ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः॥ —श्रीमद्० १०।४।४०

विपरीत हमारे सामने एक उदाहरण ऐसा भी है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि अति प्राचीन काल में ऐसा नहीं होता था। राजा अश्वपति घोषणा करते हुए कहते हैं कि मेरे राज्य में न तो कोई शराबी है, न कंजूस है, न व्यभिचारी नर-नारियाँ हैं तथा न ही कोई यज्ञ न करने वाला है।[१] एक आदर्श वैदिक राज्य का उदाहरण है यह। हमारा मानना है कि प्राचीन आर्यों में ये दोष नहीं थे तथा वेदों में कहीं भी ऐसे घृणित कार्यों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यदि सायण आदि भाष्यकारों ने ऐसे कार्यों का प्रतिपादन अपने वेदभाष्यों में किया है तो यह वेदों का दोष नहीं, अपितु भाष्यकारों का दोष है। सायण का समय ईसा की १४वीं शताब्दी है, अर्थात् शंकराचार्य से लगभग १६०० वर्ष पश्चात्। इस समय उत्तरभारत में मुसलमानों का राज्य था तथा गोवध, मांसाहारादि कार्य सर्वसामान्य थे। महीधर तो स्वयं तान्त्रिक था इसीलिए उसने अपने यजुर्वेदभाष्य में भी उक्त दुष्कृत्यों का प्रतिपादन किया है।

यज्ञों में हिंसा का प्रारम्भ—ऐसा समय महाभारत के आस-पास ही रहा है। इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—''बिगाड़ के मूल महाभारत युद्ध से एक सहस्र वर्ष पूर्व से प्रवृत्त हुए थे।'' मांसाहारी, हिंसक तथा सच्चे वेदार्थ को न समझने वाले धूर्त्त लोगों ने ऐसा करना प्रारम्भ किया था। महाभारत में लिखा है कि सुरा, मछली, मांस आदि का खान-पान तथा यज्ञ में मांस की आहुति धूर्त्तों ने प्रारम्भ की हैं। वेदों में इनका विधान नहीं है।[२] महाभारत युद्ध के उपरान्त महाराजा युधिष्ठिर ने भी राजसूय यज्ञ किया था। महाभारत में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि हे राजन् युधिष्ठिर! यज्ञ में प्राणिवध नहीं होता। इसलिए तुम्हें हिंसारहित यज्ञ ही करना चाहिए।[३]

यज्ञों में हिंसा के प्रचलन का कारण—शुद्ध यज्ञों में पशुहिंसा का प्रचलन कैसे हुआ? इसके निम्न कारण हैं—

(१) **पशुयज्ञ**—पुराने समय में पशुयज्ञ किया जाता था। यज्ञ का अर्थ संगतिकरण है। इसका अभिप्राय था कि पशुओं को एकत्रित करके उनके रोगों का निवारण तथा उनके उत्तम स्वास्थ्य का यत्न किया जाता था। मनुष्यों की तरह पशुओं के लिए चिकित्सालय तथा चिकित्सक

---

१. न मे स्तनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

२. सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म अ०

३. ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे नास्ति यज्ञस्त्वहिंसकः।
ततोऽहिंसात्मकः कार्यः सदा यज्ञो युधिष्ठिरः॥
—म०भा०शा०प०

सर्वत्र सुलभ नहीं होते थे। आजकल भी लगभग यही अवस्था है। ऐसे प्रगतिशील युग में भी सर्वत्र पशुचिकित्सालय तथा चिकित्सक उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए ग्रामों में अनेक पशु नाना बीमारियों से दम तोड़ देते हैं। इस दोष के निवारणार्थ यह व्यवस्था की गयी कि किसी दिन पशुओं को एकत्रित करके उनका सामुहिक रूप में स्वास्थ्य परीक्षण तथा रोग निवारण किया जाए। आजकल मनुष्यों के लिए भी ऐसे सामुहिक कैम्प लगाये जाते हैं। पशुओं के उक्त एकत्रीकरण को ही पशुयज्ञ कहा जाता था, क्योंकि यज्ञ का एक अर्थ एकत्रीकरण भी है।

इस क्रिया-कलाप के साथ यज्ञ शब्द जुड़ा था अतः कालान्तर में उक्त भावना को न समझने के कारण पशुयज्ञ का अर्थ यज्ञ में पशुओं की आहुति देना समझा जाने लगा। ऐसा अन्य धार्मिक कार्यों में भी किया गया। यथा सूर्य को अर्ध=जल देने को धार्मिक कार्य समझा जाता है, किन्तु इसके पीछे रहस्य यह था कि प्रातःकाल उगते हुए सूर्य के सम्मुख होकर जल की धार डालने से उस जलधारा में से गुजरने वाली सूर्य की किरणें आँखों के लिए लाभकारी होती हैं। इस रहस्य को तो भुला दिया गया। आज तो लोग १२ बजे भी सूर्य को जल देते हुए देखे जाते हैं। यह रुढ़िवाद तथा व्यर्थ का कार्य है। इससे कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार पशुयज्ञ के वास्तविक अभिप्राय को भुलाकर यज्ञों में पशुबलि का प्रारम्भ हो गया। इस सम्बन्ध में दूसरी गलती यह हुई कि यज्ञ में चावलों का बना पुरोडाश डाला जाता है। तै० ब्रा० में कहा गया है कि पशु ही पुरोडाश है।[1] इसके वास्तविक अर्थ को न समझकर पुरोडाश के स्थान पर पशुओं की ही आहुति दी जाने लगी। महाभारत में कहा गया है कि यह पशु व्रीहि=चावल का ही होता है।[2]

(२) **धार्मिक भावना**—भारत धर्मप्रधान देश है। चीन जैसे कम्यूनिष्ट देश में इस प्रकार के कार्य जन्म नहीं ले सकते। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण अनेक आडम्बरों को भी धर्म ही माना जाने लगा। यथा-गंगास्नान। इसका मुख्य उद्देश्य तो यह था कि वर्ष में एक बार नदियों के किनारे पर एकत्रित होकर सन्त-महात्माओं के प्रवचन सुनकर जीवन सफल बनाना तथा नदी के स्नान से शारीरिक रोगों को दूर करना। मेलों के अवसरों पर साधु-महात्मा सुलभ रहते थे, अन्यथा एक ही स्थान पर इनका इकट्ठा होना दुर्लभ था। आज ये दोनों प्रयोजन तो समाप्त हो गये। गंगा में डुबकी लगाने को धर्म माना जाने लगा तथा यह धारणा बन गयी कि इससे मोक्ष मिलता है। यह धारणा बिल्कुल गलत है।

---

१. पशवो वै पुरोडाशः। —तै० ब्रा० १।८।३।३

२. श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः। —महा० अनु० ११५।४९

यज्ञ भी धार्मिक कार्य था। अतः अज्ञानवश यज्ञों में की गयी पशुहिंसा को भी धर्म ही माना जाने लगा। यज्ञ के अनेक लाभ हैं। इनमें स्वर्गप्राप्ति को भी यज्ञ का फल बतलाया गया है। इसी आधार पर 'स्वर्गकामो यजेत'=स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे, इत्यादि सूक्तियाँ भी प्रचलित हो गयीं। इनके मूल में वेदमन्त्रों के प्रमाण भी थे। वेद में भी कहा गया है कि यज्ञ करने वाले स्वर्ग को प्राप्त करते हैं[१] यद्यपि यहाँ भी यह भ्रम ही था कि स्वर्ग मृत्यु के उपरान्त मिलता है। यह धारणा गलत है। स्वर्ग में दो पद हैं—स्वः+ग। स्वः का अर्थ सुख तथा 'ग' का अर्थ जाना है। सुख विशेष को प्राप्त करना ही स्वर्ग है। यज्ञ के द्वारा शारीरिक-मानसिक रोग दूर होकर स्वास्थ्य उत्तम बनता है तथा मन्त्रोच्चारण से आत्मिक शान्ति मिलती है। यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति का यही रहस्य है। मरने के बाद तो व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में जन्म लेता है। इस संसार से अतिरिक्त कहीं भी स्वर्ग-नरक नहीं है।

यज्ञों के विषय में यह गलत धारणा काम कर रही थी कि यज्ञ करने से मरने पर स्वर्ग मिलता है।

(३) **अन्य भ्रान्ति**—एक अन्य भ्रान्ति यह भी फैलायी गयी कि यज्ञ में मारे गये पशु को भी स्वर्ग प्राप्ति होती है। हिंसक पुरोहित यही तर्क देते थे कि यज्ञ में बकरे, घोड़े तथा गाय आदि की आहुति देने से उन पशुओं को स्वर्ग मिलेगा। अतः यह हिंसा नहीं, अपितु उन प्राणियों पर उपकार ही है। इसी सम्बन्ध में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेदों में विहित हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है, इस प्रकार की उक्तियाँ भी गढ़ ली गयीं। सायण, स्कन्दस्वामी आदि वेदभाष्यकारों ने भी अज्ञानवश उक्त धारणा का समर्थन किया।[२] इन्हीं भाष्यकारों का समर्थन अभी भी अनेक दुराग्रही व्यक्ति करते हैं। इस विषय में दिवंगत विद्वान् स्वामी विद्यानन्दजी ने लिखा है कि कांची कामकोटि पीठाधीश्वर जयेन्द्र सरस्वती ने स्वामीजी से कहा था कि वेदों में गोहत्या का विधान है। यद्यपि इन विचारों का प्रतिवाद भी किया गया। चार्वाक जैसा नास्तिक भी उक्त धारणा का खण्डन करते हुए कहता है कि यदि यज्ञ में मारे गये पशु स्वर्ग को जाते हैं, तो यजमान अपने पिता को मार कर उसकी आहुति यज्ञ में क्यों नहीं दे देता, क्योंकि इससे तो वह भी स्वर्ग को चला जायेगा।[३] महाभारत में भी कहा गया है कि यदि यज्ञ में पशुओं को मारकर उनके

---

१. ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्।

२. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यन्ते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टाः स्मरन्ति। —स्कन्द स्वामी

३. पशुश्चभिहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमेन गच्छति।
स्व पिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ —चार्वाक दर्शन

रक्त से कीचड़ उत्पन्न करने से स्वर्ग मिलता है, तो नरक किन कार्यों से मिलेगा।[१]

(४) **अन्धविश्वास एवं अन्ध श्रद्धा**—यज्ञों में पशुहत्या के मूल में यह विश्वास भी था कि इस प्रकार के यज्ञों से परमेश्वर अथवा देवगण प्रसन्न होते हैं। कलकत्ता आदि नगरों में काली के आगे अनेक भेड़-बकरियों का वध इसी भावना से किया जाता है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर देव-देवी की मूर्तियों को मुर्गे, बकरे तथा भैंसों के रक्त से पूजने की प्रथा अभी भी जारी है। पर्वतीय प्रदेशों हिमाचल आदि में इसका विकृत रूप देखा जा सकता है, जहाँ प्रतिवर्ष मेले लगते हैं तथा हजारों पशुओं की बलि मूर्त्ति के सामने की जाती है। न केवल हिन्दुओं में ही अपितु मुसलमानों में भी यह दुष्प्रथा व्यापक रूप में है। ईद के अवसर पर भेड़-बकरियों का कत्ल इसी उद्देश्य से किया जाता है कि इससे खुदा प्रसन्न होगा। बकरईद तो सुप्रसिद्ध है ही जिसमें काटने के लिए लाखों रुपये की कीमत एक-एक बकरे की लगायी जाती है। मुसलमानों में इस भावना के पीछे कुरान की वह कथा है कि खुदा ने इब्राहिम से कहा कि तू मुझे अपनी सबसे प्रिय वस्तु भेंटस्वरूप प्रदान कर। इब्राहिम ने अपने पुत्र की बलि देनी चाही, तो खुदा प्रसन्न हो गया तथा पुत्र के स्थान पर मेमना निकला। तब उसकी ही बलि दी गयी।

ये सभी अन्धविश्वास हैं। खुदा, परमेश्वर या कोई भी देवी-देवता प्राणियों के रक्त से प्रसन्न नहीं हो सकता। परमेश्वर दयालु तथा सबका पालन करने वाला है। मनुष्यों की तरह सभी पशु-पक्षी भी उसके ही बच्चे हैं। कोई भी माँ-बाप अपने बच्चे की बलि लेकर प्रसन्न नहीं होंगे। लोक में कहावत भी है कि माँ डायन हो, तो भी अपने बच्चों को नहीं खाती।

इस प्रकार के दुष्कृत्यों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन भी किया गया है। स्मृतियों पुराण आदि में इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यथा पराशर स्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियों का वध करके उनके मांस से देवों तथा पितरों का तर्पण करता है, वह मूर्ख मानो चन्दन को जलाकर अंगारों का लेपन करता है।[२]

इसी प्रकार पद्मपुराण में माता पार्वती कहती हैं कि जो प्राणियों का वध करके मेरी अर्चना करते हैं, उनकी अधोगति होती है।[३] इसी प्रकार

---

१. यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते ॥ —म० भा० शा० पर्व

२. यस्तु प्राणिवधं कृत्वा देवान् पितृँश्च तर्पयेत्।
सोऽविद्वान् चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गारलेपनम् ॥

३. मे ममार्चनमित्युक्त्वा प्राणिहिंसनतत्पराः।
तत्पूजनं ममामेध्यं यद्दोषात् तदधोगतिः ॥

स्कन्दपुराण में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि देवता तो यज्ञ में डाले गये दूध, घृत, अन्न आदि से तृप्त होते हैं, न कि मांस से।[१]

(५) **मांसाहार की प्रवृत्ति**—मांसभक्षियों की आदत के कारण भी यज्ञों में पशुहिंसा की गयी। पं० युधिष्ठिर मीमांसक बतलाते थे कि उन्होंने स्वयं एक दाक्षणात्य ब्राह्मण को यज्ञशेष के रूप में गाय की चर्बी खाते हुए देखा है। यह एक भावना है कि व्यक्ति स्वयं जिन कार्यों को करना चाहता है, अपने इष्ट देवों को भी वह उन कार्यों से सम्बन्धित कर देता है। यथा-भांग, धतूरा खाने वाले शिवजी जैसे योगी को भी भांग-धतूरे वाला कहते हैं। इन्हें पता नहीं कि भांग खाकर तो योग हो ही नहीं सकता। धतूरा तो इससे भी भयानक है। स्त्रियों के साथ रासलीला करने वाले श्री कृष्ण जैसे योगिराज पर भी गोपियों के साथ रासलीला आदि करने के दोष लगाकर कुब्जा, राधा तथा अन्य गोपियों के साथ श्री कृष्ण के विषय भोग को सिद्ध करते हैं, जबकि श्री कृष्ण का ऐसे समाज विरोधी, अनैतिक कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार मांसाहारी तथा मद्य पीने वाले लोगों ने यज्ञों में भी इनका प्रचलन प्रारम्भ किया। इस विषय में भागवत पुराण में लिखा है कि अपने सुख की इच्छा में हिंसक मनुष्य ही यज्ञों में पशुहिंसा करते हैं।[२] इसी प्रकार स्कन्द पुराण में लिखा है कि तमोगुण के कारण दैत्य लोग मद्य तथा मांसप्रिय होते हैं।[३] ऐसे लोगों ने ही मांसाहार को उचित तथा शास्त्रसम्मत ठहराने के लिए यज्ञों में भी पशुबलि का प्रचलन किया। इसी आधार पर मैक्डानल ने 'वैदिक इण्डेक्स' में लिखा है कि वैदिक युग में मानव जो कुछ खाता था, वह देवताओं को भेंट करता था-यानि भेड़, बकरी और बैल।[४]

(६) **कालान्तर में वेदभाष्यकारों का अज्ञान**—वेदों तथा यज्ञों में पशुहिंसा का आक्षेप वेदभाष्यकारों के कारण भी लगा है, क्योंकि कुछ भाष्यकारों ने अपने वेदभाष्य में इन कार्यों का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। इनमें उव्वट, महीधर तथा सायण आदि वेदभाष्यकार प्रमुख हैं। उन्होंने ऐसा दो कारणों से ही किया होगा। पहला यह कि वे स्वयं भी

---

१. अन्नैर्व्रीह्यादिभिर्यज्ञः पयोदधिघृतादिभिः।
रसैश्च क्रियतां तेन तृप्तिं यास्यन्ति देवताः॥ —स्कन्द पुराण

२. हिंसाविहारा ह्यालुब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् नराः॥
—भागवत, स्क० ११ अ० २१ श्लोक ३०

३. मधुमांसप्रिया दैत्यास्तामसत्वाद् भवन्ति च। —स्कन्द पुराण

४. The usual food of the Vedic Indians........, what man ate he presented To God-that is the sheep, the goat and the ox. Vedic Index, Part 2, P. 143.

मांसभक्षण आदि दोषों तथा यज्ञों में हिंसा के समर्थक रहे होंगे। अपनी बात को प्रामाणिक बतलाने के उद्देश्य से उन्होंने वेदों पर भी इस आरोप को मढ़ दिया। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ये वेदभाष्यकार वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझ ही न सके हों। वेदों के शब्दों के अर्थ लौकिक शब्दों की तरह नहीं किये जा सकते। उदाहणार्थ लोक में अहि शब्द सर्प का वाचक है, जबकि वेद में इसका मुख्य अर्थ बादल है। इसी प्रकार गो, अश्व, वृषभ, अजा, अवि, यज्ञ, देव आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो वेद में विभिन्न अर्थों को कहते हैं। इसी प्रकार हन् धातु का अर्थ केवल हनन करना=मारना ही नहीं, अपितु ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति आदि भी इसके अर्थ हैं। इस आधार पर अश्व आदि के हनन का प्रसंग आने पर विविध अर्थ किये जाने चाहिए थे, जबकि इन भाष्यकारों ने उन प्रसंगों में गोवध आदि का ही प्रतिपादन किया है। अन्य भी कुछ दोष इन भाष्यकारों के भाष्यों में रहे हैं, जिनका वर्णन विस्तार से हमने दूसरी पुस्तक में किया है। इस प्रकार सायण आदि भाष्यकारों के कारण भी वेदों पर पशुहिंसा एवं मांसभक्षण आदि दोष लगे। महर्षि दयानन्द ने प्राचीन ऋषि-मुनियों की शैली पर वेदभाष्य किया है। इसलिए उनके भाष्य में ये दोष नहीं हैं। आधुनिक इतिहासकार सायण आदि के वेदभाष्यों के आधार पर ही वेदों में मांसभक्षण, गोवध आदि दोष लगाते हैं, जो कि सर्वथा असत्य है। वेदों में तो स्थान-स्थान पर गो-अश्व आदि पशुओं तथा अन्य सभी निरपराध प्राणियों की हत्या का निषेध किया गया है। न केवल निषेध ही, अपितु वेदों में तो इनकी रक्षा का उपदेश दिया गया है। ''यजमानस्य पशून् पाहि'' यजमान के पशुओं की रक्षा करो तथा ''प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय'' अर्थात् अपनी प्रजा, पशु, कीर्ति तथा यजमानों की वृद्धि कर। इत्यादि वेदवचन इसमें प्रमाण हैं। निम्न मन्त्रों में पशुहत्या का सर्वथा निषेध किया गया है। वेदों के सम्बन्ध में इस प्रकार के आक्षेप योजनाबद्ध तरीके से लगाये गये हैं। पहले पाश्चात्य विद्वानों ने यह कार्य किया, किन्तु अब स्वतन्त्र भारत में साम्यवादी इतिहास-लेखक इसी कार्य को योजनाबद्ध तरीके से संगठित रूप में कर रहे हैं। दुर्भाग्य से इतिहास लेखन का कार्य वामपन्थियों के हाथ में ही रहा है। इनमें प्रो० नरूल हसन, प्रो० रामसरण शर्मा, डॉ० डी० एन० झा, डॉ० रोमिता थापर आदि इतिहासज्ञ हैं। इनसे पहले के एम० मुंशी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, अविनाशचन्द्र दास, प्रो० सतीशचन्द्र आदि ने जो कुछ भी लिखा है, वह पाश्चात्य विद्वानों की धारणाओं के आधार लिखा है। मार्क्सवादी लेखकों ने अपने अभिप्राय को छिपाया भी नहीं, अपितु सरेआम इसका प्रतिपादन किया है। इसका प्रमाण १५ फरवरी १९७९ को दिल्ली में "Indian History and Culture society" के वार्षिक अधिवेशन में बनारस हिन्दू

विश्वविद्यालय के प्रो० डॉ० लल्लन जी गोपाल के इस कथन से चलता है—

"इस देश के इतिहासकारों द्वारा भी इसी प्रकार का प्रयास (मार्क्सवादी व्याख्या) किया जा रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० डी० एन० झा और उनके साथियों ने अपने मार्क्सवादी श्रेणी की बात को छिपाया नहीं और स्पष्ट कह दिया कि वे जीवन भर भारतीय साहित्य की साम्यवादी व्याख्या करते रहेंगे।"[१] ये लोग अभी भी उसी भावना से ऐसा कर रहे हैं। ऐसा करने में ये लोग किस स्तर का झूठ भी बोल सकते हैं, इसका प्रमाण दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर डॉ० नामवर सिंह का वह वक्तव्य है कि स्वामी दयानन्द ने वेदों के कुछ ही मन्त्रों पर भाष्य किया है। जबकि सर्वविदित तथ्य है कि स्वामीजी ने सम्पूर्ण यजुर्वेद तथा ऋग्वेद ७।६१।२ मन्त्रों तक वेदभाष्य किया है, जो प्रकाशित भी है। इससे बड़ा झूठ और क्या होगा। ये साम्यवादी प्राचीन वैदिक संस्कृति के इतने विरोध में हैं कि सितम्बर २०१२ में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रसंघ के चुनाव के अवसर पर छात्रों की ओर से वहाँ 'Food Festival' का आयोजन किया गया, जिसमें गोमांस पकाकर परोसने का भी प्रावधान था। उच्चन्यायालय के आदेश पर इसे रद्द किया गया। जे०एन०यू० के ही डॉ० तुलसीराम इसी प्रकार के निन्दनीय आक्षेप असभ्य भाषा में वेदों पर लगाते रहते हैं। जिनका उत्तर भी दिया जाता है। ऐसे कार्यों में हमारी सरकार भी पीछे नहीं हैं, क्योंकि यह भी वामपन्थियों के सहारे से चल रही है। सरकार ने सन् २०१० में राष्ट्र मण्डल खेलों के अवसर पर गोमांस परोसने का निर्णय लिया था, जिसे विरोध होने पर वापस लिया गया था।

प्राचीन भाष्यकार—वेदों के द्वारा वर्त्तमान में इस प्रकार के दोष लगाने का एक सशक्त कारण यह भी रहा है कि सायण, महीधर आदि भाष्यकारों के वेदभाष्यों में गोवध तथा मांसभक्षण का प्रतिपादन किया गया है। यथा—अथर्व० ९।४ सूक्त में एक वृषभ का वर्णन अनेक रूपों में किया गया है। सायण ने इस सूक्त के भाष्य की उत्थानिका में लिखा है—

"ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मासं भिन्न-भिन्न देवताभ्यो जुहोति। तद् वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमेदेवभ्यः प्रियाणि

1. A Similar attempt is being made by Historians here. Dr. D. N. Jha of Delhi University, who is also a Joint Secretery of Indian History Congress, and his colleagres did not hide their marxist leanings and said that they would live to interpret historical events and facts in marxist terms-Indian Express, Feb. 14-15, 1979.

भवन्ति तद्विवेचनम्। वृषभबलिहननस्य महत्वं च वर्ण्यते। तदुपपन्नं श्रेयश्य स्तूयते।''

यहाँ पर सायण ने स्पष्ट रूप में वृषभ को मारकर उसके मांस को विभिन्न देवों को देने का प्रतिपादन किया है। सायण ने ऐसे प्रसङ्गों में ऐसा ही अनर्थ अनेकत्र किया है। सायण व्याकरणादि शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित है। वह कठिन से कठिन पदों की भी व्याख्या करता है। निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का उपयोग करता है, किन्तु वेद के वास्तविक आशय को, वैदिक शब्दों के निहितार्थ को नहीं समझ पाता, यह उसका केन्द्रीय दोष है। इसीलिए उसने अनेक स्थानों में गोवध तथा मांस की आहुति का प्रतिदान कर दिया। इसी सूक्त पर थोड़ा-सा विचार करते हैं—

सूक्त में २४ मन्त्र हैं। कुछ मन्त्रों में स्पष्टरूप में 'वृषभमाजुहोति' कहा गया है। सायण ने इसका अर्थ यही लगा लिया कि वृषभ को मारकर यज्ञ में आहुति देते हैं। सायण से यह गलती इसलिए हुई कि उसने 'जुहोति' को आहुति देने तक सीमित कर दिया, जबकि ऐसा नहीं है। जुहोति में 'हु दानादनयोः' (जुहो०) धातु दानार्थक भी है। अतः जुहोति का सीधा सा अर्थ 'दान देता है' भी होता है। इस सूक्त का १९-२० मन्त्र इसी अर्थ के पोषक हैं। उन्नीसवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

ब्राह्मणेभ्यं ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽवं पश्यते॥

—अथर्व० ९।४।१९

यहाँ स्पष्टरूप में **दत्त्वा** पद है जिसका अर्थ देना ही है, किसी भी प्रकार इसका अर्थ 'मारना' नहीं किया जा सकता है। मन्त्र कहता है कि ब्राह्मण को वृषभ देकर दाता अपना मन श्रेष्ठ बनाता है तथा अपनी गोशाला में गोओं की पुष्टि देखता है। दान देकर सभी का मन श्रेष्ठ बनता है तथा यह वृषभ साण्ड रूप में छोड़ा जाता है, जो गौओं में गर्भाधान करता है, इससे गोधन की पुष्टि=वृद्धि होती है। मन्त्र का यह अर्थ था। इसकी अवहेलना करके सायण ने लिख दिया कि वृषभ को मारकर उसका मांस ब्राह्मणों को देता है। मांस शब्द तो मन्त्र में है ही नहीं। पता नहीं सायण ने किस भ्रम में यह अर्थ कर दिया। सूक्त के बीसवें मन्त्र में पुनः कहा गया है कि वृषभदायिने अर्थात् वृषभ को देने वाले को गाय, प्रजा, शारीरिक बल आदि सब कुछ प्राप्त हो। यही सुसंगत अर्थ है। वृषभ के द्वारा गोओं की वृद्धि की जायेगी तो दूध, घी प्रचुर रूप में प्राप्त होंगे। इनसे शारीरिक बल तथा उससे सन्तान की वृद्धि होगी ही। वृषभ के मांस देने का तो यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है।

सूक्त के सतरहवें मन्त्र में वृषभ के लिए 'गवां यः पतिरघ्न्यः' कहा

गया है। अर्थात् जो वृषभ अघ्न्य=न मारने योग्य है। इतना स्पष्ट वर्णन होने पर भी सायण ने वृषभ को मारने का विपरीत अर्थ कैसे कर दिया, यह आश्चर्य है। इस सूक्त के तीन मन्त्रों में गोओं के लिए भी अघ्न्या पद पठित है। इस स्थिति में यहाँ गोवध की शंका कैसे की जा सकती है।

सूक्त के प्रारम्भ में सायण ने लिखा है कि किन देवों को मृत वृषभ के कौन-कौन से अंग प्रिय हैं, यह सूक्त में कहा गया है। यहाँ भी सायण ने सूक्त के साथ न्याय नहीं किया है। सूक्त के चौदहवें मन्त्र में कहा गया है—"ऋषभं यदकल्पयन्।" यहाँ पठित अकल्पयन् क्रिया पर सायण का ध्यान नहीं गया। यह वही क्रिया है, जिसका उल्लेख पुरुष सूक्त में इस प्रकार हुआ है—

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्। —ऋ० १०।९०।११

उस विराट् पुरुष के अंगों की कल्पना 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र के द्वारा की गयी। इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि विराट् पुरुष को मारकर ब्राह्मणादि की उत्पत्ति की गयी। यही क्रिया प्रस्तुत सूक्त में है। यहाँ भी इस वृषभ के अंगों का सम्बन्ध विविध देवताओं के साथ दिखलाकर वृषभ का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, अन्य कुछ नहीं।

सूक्त का अन्तिम मन्त्र यह बिल्कुल ही स्पष्ट कर देता है कि इस सूक्त में वृषभ की हत्या का वर्णन न होकर गोओं के गर्भाधानार्थ छोड़े जाने वाले वृषभ का वर्णन है। मन्त्र इस प्रकार है—

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥

हे गोओं! तुम्हारे लिए इस युवा वृषभ को हम देते हैं। इसके साथ क्रीडा करती हुई तुम विचरण करो तथा हमें धन एवं पुष्टियों से संयुक्त करो। इतना स्पष्ट वर्णन होने पर भी सायण ने यहाँ वृषभ के मांस का वितरण मानकर वृषभ के साथ वेद की भी हत्या अवश्य ही कर दी है।

सायण जैसे पण्डित से ऐसे विपरीत अर्थों की आशा नहीं थी, किन्तु कभी-कभी केवल शाब्दिक पाण्डित्य के बल पर ऐसे अर्थ कर दिये जाते हैं। अन्यों ने भी ऐसा कहीं-कहीं किया है। यथा-इसी सूक्त के प्रथम तथा तृतीय मन्त्र में वृषभ का विशेषण 'पयस्वान्' दिया गया है। पं० दामोदर सातवलेकर ने इसका अर्थ दूध वाला बैल किया है। क्या किसी ने त्रिलोकी में भी दूध वाला बैल देखा है? पण्डित जी ने यहाँ निघण्टु को भी नहीं देखा। निघण्टु २।७ में पयः अन्न नामों में पठित है। अतः पयस्वान् का सीधा-सा अर्थ है-अन्न वाला वृषभ अर्थात् जो अन्न को खाता है। वास्तव में यह वृषभ खेतों में किसानों की फसलों के अन्नों को खुले रूप में खाता रहता है। इसीलिए मन्त्र में इसे 'सहस्रत्वषः' हजारों

शक्तियों से युक्त कहा है। सचमुच यह वृषभ अति बलवान् होता है तथा युवा ही होता है।

इस प्रकार सायण आदि के प्राचीन भाष्यों का आश्रय लेकर मार्क्सवादी तथा अन्य लोग वेदों पर नाना आक्षेप लगाते रहते हैं। इसका प्रत्यक्षीकरण मुझे तब हुआ, जब दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास के प्रो० डी० एन० झा ने "beef eatng in Ancient India" लिखी। ये महोदय हमारे रामजस कॉलेज के अति निकट ही रहते थे। मैं उक्त पुस्तक पर चर्चा करने उनके घर गया, तो उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में वेदमन्त्र मुझे दिखलाए। मैंने कहा कि इनका स्वामी दयान्दकृत यह अर्थ नहीं है। स्वामीजी ने इन मन्त्रों के शुद्ध अर्थ यास्कीय प्रणाली पर किये हैं। तब झा महोदय बोले कि सायण ने इनके ये ही अर्थ किये हैं तथा हमने उनके अनुसार ही लिखा है। वस्तुतः बात सही थी। इसलिए वेदों पर आक्षेप लगाने वाले चाहे पाश्चात्य हों, चाहे साम्यवादी हों या अन्य भारतीय हों, वे उतने दोषी नहीं, जितने कि सायण आदि भाष्यकार। दुर्भाग्य यह है कि ऐसे व्यक्ति धार्मिक प्रतिष्ठानों की शोभा भी बढ़ा रहे हैं। यथा–काँची कामकोटि पीठाधीश शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती (जिन्हें हत्या के अभियोग में कारावास जाना पड़ा था) स्पष्ट रूप में कहते हैं कि यज्ञ में आहुति के लिए मारी गयी गौ को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[१] इसी प्रकार पुरी के शंकराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ से वेद-विषयक एक पुस्तक के लिए जब मैंने लेख भेजने की प्रार्थना १९७९ में की, तो उनका पत्र आया कि यदि पुस्तक में सायणभाष्य का ही समर्थन किया जाए, तो वे लेख भेज सकते हैं। यह सम्भव नहीं था। अतः लेख नहीं भेजा गया।

सायण आदि प्राचीन भाष्यकारों ने हमारा मार्गदर्शन अवश्य किया है, किन्तु वेद-विषयक आक्षेपों से हम तभी मुक्त हो सकेंगे, जब उन भाष्यों के दोषों को भी जानें तथा विशुद्ध वेदार्थ को यास्कीय पद्धति से समझें।

---

१. वैदिक यज्ञों का स्वरूप, डॉ० कृष्णलाल, पृष्ठ-८ पर उद्धृत।

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

यह आक्षेप भी किया जाता है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशुबलि तथा गोमांस की आहुति दी जाती थी। इतना ही नहीं, अपितु प्राचीन आर्य भी गोमांसादि खाते थे। वस्तुतः वेदमन्त्रों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका भाष्यकारों ने हिंसापरक अर्थ करके वेदों में गो, अजा, अश्व आदि के वध तथा यज्ञ में इनके मांस की आहुति का प्रतिपादन कर दिया। ऐसा करते समय उन्होंने यास्क के निरुक्त को भी ध्यान में नहीं रखा। यदि ऐसा होता, तो वेदों में हिंसा का प्रतिपादन किया ही नहीं जा सकता था। यहाँ पर एक-दो मन्त्र ही प्रस्तुत किये जाते हैं, उनसे ही इस प्रकार के सभी प्रसंगों की वास्तविकता जान ली जायेगी। मन्त्र इस प्रकार है—

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

—ऋ० १०।८६।१४

इसका सायणानुसार अर्थ यह है—मेरी भार्या इन्द्राणी के द्वारा प्रेरित याज्ञिक पन्द्रह तथा बीस सांडों को पकाते हैं। मैं उन्हें खाकर मोटा हो जाता हूँ। याज्ञिक मेरी दोनों कुक्षियों को सोम से भर देते हैं। मैं इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हूँ। ऐसे भाष्यों के आधार पर ही वेदों पर उक्त आक्षेप लगाये जाते हैं।

प्रथम दृष्टि में ही यह अर्थ अविश्वसनीय इसलिए है कि अकेला इन्द्र १५-२० सांडों का मांस कैसे खा सकेगा? एक सांड में ही क्विंटल से भी अधिक मांस होता है। 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से मान भी लेते हैं कि इन्द्र का उदर इतना विशाल होगा कि वह १५-२० सांडों के मांस को खा सके, तब भी यहाँ इस प्रकार का कोई प्रसंग नहीं है। यास्क ने निरुक्त में इससे पूर्ववर्ती मन्त्र को उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

—ऋ० १०।८६।१३

यह मन्त्र वृषाकपायी को सम्बोधित है। वृषाकपायी कौन है? यास्क कहते हैं—वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी। (नि० १२।९) वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी है। वृषाकपि कौन है? यास्क कहते हैं कि सायंकाल अपनी किरणों से जगत् को कम्पायमान करता हुआ अस्त होता हुआ सूर्य

ही वृषाकपि है।[१]

यहाँ पर यास्क ने सूर्य के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया है, यथा—केशी, वरुण, विष्णु, विश्वानर, सूर्य, वृषाकपि ये सभी नाम विभिन्न स्थितियों में सूर्य के ही हैं। वेदों में जड़ पदार्थों का वर्णन भी लौकिक मानवों की तरह किया गया है। इसी आधार पर यहाँ वृषाकपायी को वृषाकपि की पत्नी कहा गया है। यह अस्त होते हुए सूर्य की सहचारिणी है। उदित होते हुए सूर्य की प्रभा सूर्या तथा अस्त होते हुए की वृषाकपायी है।

ऋग्वेद १०।८६ सम्पूर्ण सूक्त इन्द्र=सूर्य के इन्हीं विविध रूपों से सम्बन्धित है। इसके तेरहवें मन्त्र में कहा है कि हे सुपुत्र वाली=अन्धकार रूपी पुत्र वाली, रेवति=धनवाली, सुस्नुषे=उत्तम पुत्रवधु वाली, अन्धकार की सहचारिणी माध्यमिका वाक् अर्थात् निस्तब्धता ही इसकी पुत्रवधु है। सुस्नुषे माध्यमिक्या वाचा (यास्क)। हे वृषाकपायि! तू प्रियं काचित्करं हविः=प्रिय तथा सुखदायक ओस रूपी हवि का निर्माण कर जिसे इन्द्र घसत्=इन्द्र=सूर्य खाता है। सब जानते हैं कि सूर्य छिपते ही ओस पड़नी प्रारम्भ हो जाती है तथा प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणों से उस ओस को खाता है, नष्ट करता है। यास्क ने निरुक्त में इस मन्त्र की यही व्याख्या की है तो इससे अगले चतुर्दश मन्त्र की व्याख्या भी इसी प्रसंग में की जायेगी, अन्य प्रसंग में नहीं। यास्क कहते हैं—प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।[२] अब हम सूक्त के चतुर्दश मन्त्र को लेते हैं, जिसमें सायण ने १५-२० सांडों को इन्द्र के लिए पकाने का वर्णन माना है।

उक्षा शब्द भ्वादि गण की उक्ष सेचने धातु से बना है। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा (निरुक्त २।९)। यास्क ने यह रात्रि के ओस कणों को ही उक्षा कहा है, क्योंकि वे ही रात्रि में वनस्पति को बढ़ाते हैं, वृद्धिकर्मणः-तथा इनके द्वारा ही वनस्पतियों का सेचन होता है-उक्षन्त्युदकेनेति वा। इस मन्त्र में जिन १५-२० सांडों का उल्लेख है, वे उक्षा=वृद्धि को प्राप्त बादल हैं। इन्द्र=सूर्य उन्हें पकाता है अर्थात् अपनी किरणों से उन्हें गरम करता है। मेघ के विविध रूपों को ही यहाँ १५-२० उक्षा कहा गया है। तत्पश्चात् ठण्डी वायु का स्पर्श पाकर उनसे वर्षा होती है। इससे इन्द्र की दोनों कुक्षी=पृथिवी लोक तथा अन्तरिक्ष लोक पूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार पूरे मन्त्र में वर्षा का वर्णन है, जिसे अज्ञानतावश सांडों के वध में लगा दिया गया। वेदों में इस प्रकार के प्रसंग पर्याप्त हैं, जहाँ शब्दों का अभिधेयार्थ लेकर उनके हिंसापरक अर्थ कर दिये गये हैं। यहाँ उन सभी का उल्लेख नहीं किया जा सकता। आक्षेपकर्त्ताओं

१. अथ यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति। —नि० १२।१०
२. नि० १३।१२।

ने ऐसे भाष्यों का आश्रय लेकर ही यज्ञों में पशुहिंसा आदि का प्रतिपादन किया है। इसी भावना से अश्वमेध, गोमेध, अजामेध तथा पुरुषमेध आदि शब्दों का अर्थ भी हिंसापरक ही मान लिया गया। यहाँ इन सभी यज्ञों पर विचार किया जाता है—

अश्वमेध, गोमेध, पुरुषमेध आदि का स्वरूप

कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदों में इन यज्ञों का वर्णन है। इनका अर्थ है कि अश्वमेध में अश्व की बलि दी जाती थी, अजामेध में बकरी की, गोमेध में गाय की बलि दी जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान के आधार पर प्राचीनकाल में पुरुषमेध का भी समर्थन किया जाता है। इस विषय में 'the Rigveda and Vedic Religion' नामक पुस्तक के लेखक ने अपनी इस पुस्तक में Animal sacrifices शीर्षक देकर लिखा है कि एक असाधारण यज्ञ में १७ जवान गोओं की बलि दी जाती थी। बैलों, भैंसों और हरिणों की भी कई बार बड़ी मात्रा में बलि दी जाती थी। शुक्ल यजुर्वेद में ३२७ पालतू पशुओं का वर्णन है, जिनमें बैलों, गोओं, दूध देने वाली गोओं का भी समावेश हैं, जिनकी बलि घोड़े के साथ अश्वमेध यज्ञ में दी जाती थी।[१]

पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रान्ति यज्ञ शब्द का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण हुई है। उन्होंने यज्ञ का अर्थ सर्वत्र Sacrifice ही किया है। इस शब्द का अर्थ बलिदान ही है। अतः उन्हें भ्रम हो गया कि यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। यदि उन्होंने यज्ञ के यास्कीय निर्वचन तथा यज्धातु के पाणिनीय देवपूजा, संगतिकरण तथा दान अर्थों को देख लिया होता, तो यह गलती न होती। यज्ञ शब्द का अर्थ चारों वेदों में कहीं भी बलि नहीं है। वेदों में तो यज्ञ के लिए साक्षात् 'अध्वर' शब्द अनेक स्थानों पर पठित है। जिसका अर्थ हिंसारहित ही है।

यज्ञ में अध्वर्यु नामक ऋत्विक् की नियुक्ति इसीलिए होती है कि वह यज्ञ में किसी भी प्रकार की हिंसा न होने दे।

अध्वर्युः अध्वरम् अहिंसकं यज्ञमिच्छुः। अध्वरं कामयत इति वा॥

—नि० १।८

---

१. ऋ० में १।१।४,८; २।२५; ३।१७।५; ४।१२।१०; ५।४।८; ६।२३।; ७।३।११; ८।३।५; ९।६७।१; १०।२२।७ आदि ४३ स्थानों पर पठित है। यजुर्वेद में भी २।४५; ३।११; ६।२३; ६।२५; १५।८; २९।६; आदि ४३ स्थानों पर।

सामवेद में पूर्वा० १।२।६; १।३।१; १।३।१२; २।२।६; १।६।७; उत्त० ६।३।४।२; ६।३।५।२ आदि मन्त्रों में।

अथर्ववेद में १।४।२; २।२४।३; ५।१२।२; ३।१६।६; १८।२।२; १९।४२।४ आदि मन्त्रों में।

वस्तुत: वेदों में अश्वमेध को छोड़कर अन्य गोमेध आदि शब्दों का प्रयोग ही नहीं है। यहाँ पर भी मेध शब्द का हिंसा अर्थ न होकर संगमन=प्राप्ति अर्थ है। धातुपाठ में मेध धातु के मेधा, हिंसा तथा संगमन अर्थ दिये हुए हैं। अत: गोमेध आदि शब्दों का अर्थ है—गाय आदि की प्राप्ति तथा इनका संवर्धन। इस विषय में एक प्रमाण यह है कि पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ तथा नृयज्ञ ये तीनों शब्द पयार्यवाची हैं। मनुस्मृति में अतिथियों के सत्कार को ही नृयज्ञ कहा गया है।[१] इसी प्रकार अन्य शब्दों के विषय में जानना चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों में अश्व तथा अश्वमेध के कई अर्थ किये गये हैं।

(१) **गोमेध**—गोमेध तथा अश्वमेध इन दो शब्दों का आशय यह समझ लिया गया कि यज्ञों में गाय को मारकर आहुति देने से गोमेध तथा घोड़े को मारकर आहुति देने से अश्वमेध यज्ञ होता था। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि चारों वेदों में बीस हजार से भी अधिक मन्त्र हैं, किन्तु इनमें कहीं भी गोमेध शब्द नहीं मिलता। वस्तुत: गोमेध का अर्थ गाय को मारकर होम करना है ही नहीं। पीछे गो शब्द के कई अर्थ किये गये हैं, जो कि वेदों में अच्छी तरह प्रयुक्त हैं। यथा—पृथिवी, वाणी-किरणें, ज्ञान, इन्द्रियाँ आदि ये सभी गो के ही अर्थ हैं। हलायुध कोष के अनुसार गो शब्द के निम्न दश अर्थ हैं—१. दिशा, २. इष्टि, ३. किरण, ४. स्वर्ग, ५. वज्र, ६. वाणी, ७. तीर, ८. जल, ९. भूमि, १०. गोपशु। मेध का अर्थ प्राप्ति भी पीछे बतलाया जा चुका है। वेदों में मेध धातु के हिंसा के अर्थ में स्वल्प ही प्रयोग हैं।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—अन्नं हि गौ:॥ महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इसका उल्लेख किया है। गोमेध यज्ञ में तीन पद हैं—गो+मेध+यज्ञ। इस प्रकार इन तीनों पदों का अर्थ हुआ गो=अन्न की मेध=प्राप्ति के लिए यज्ञ। कृषि की उन्नति के लिए जो यज्ञ किया जाता है, वही गोमेध यज्ञ है। आज विज्ञान भी इस बात को मान रहा है कि यज्ञ का ही नहीं, अपितु ध्वनि का भी कृषि पर प्रभाव पड़ता है। किसानों की फसल में ऐसे अनेक रोग तथा कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, जो सम्पूर्ण फसल को ही नष्ट कर देते हैं। गन्ना, मूंजी तथा गेहूँ की फसल में ये रोग मुख्य रूप से लगते हैं। यज्ञ से कीटाणु नाशक ओषधियाँ डालकर उन्हें दूर किया जा सकता है। लौकी आदि की बेल पर कीड़ा लगने पर धूनी देने से कीड़ा मर जाता है। इसी प्रकार यज्ञ के द्वारा फसल के रोग नष्ट करके अधिक अन्न प्राप्ति का नाम ही गोमेध यज्ञ है। इसी का दूसरा पहलू यह भी है कि अन्न की वृद्धि के लिए खाद-पानी आदि की समुचित

२. नृयज्ञोऽतथिपूजनम्। मनु० ३।७०।

व्यवस्था करना तथा उत्तम बीज बोना भी गोमेध यज्ञ है। इस प्रकार करने से अधिक अन्न की प्राप्ति होती है।

(२) **गोमेध का दूसरा अर्थ**—निघण्टु में गो नाम पृथिवी का भी है पृथिवी का लम्भन=संगमन=वृद्धि ही गोमेध है। इस पक्ष में पृथिवी को उपजाऊ बनाकर अधिक अन्न उपजाने का नाम गोमेध है। पारसियों में एक गोमेज़ (Gomez) शब्द प्रचलित है। यह गोमेध का ही अपभ्रंश है। इस सम्बन्ध में डॉ० मार्टिन हाग लिखते हैं "पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है। अतः कृषि कार्य से सम्बन्ध रखने वाले समस्त क्रिया-कलाप का नाम गोमेज़ है।"[१] इस आधार पर डॉ० हाग कहते हैं कि गोमेध का अर्थ गोवध नहीं, अपितु भूमि को उर्वरा बनाकर खेती होने योग्य कर देना है।

(३) **गोमेध का तृतीय अर्थ**—गो नाम वाणी का भी है। गो अर्थात् वाणी को मेधा से संयुक्त करना ही गोमेध यज्ञ है। विद्वान् व्यक्ति ही उत्तम सुसंस्कृत वाणी बोलेगा, मूर्ख नहीं। अतः शब्दशास्त्र की शिक्षा देना ही गोमेध यज्ञ है। महर्षि गार्ग्यायण अपने ग्रन्थ प्रणववाद में कहते हैं कि शब्दमेध ही गोमेध है। अर्थात् वाणी को मेधा से संयुक्त करना। इस प्रकार शब्द शास्त्र का ज्ञान सभी को देना ही गोमेध है।[२]

(४) **गोमेध का चतुर्थ अर्थ**—गो नाम इन्द्रियों का भी है। युवावस्था के पश्चात् इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं। उनकी शक्ति कम होने लगती है। यज्ञ आदि तथा अन्य स्वास्थ्य रक्षक साधनों के द्वारा उनकी शक्ति को बनाए रखना भी गोमेध है। वेद में कहा गया है—"अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु।" अर्थात् मेरे सभी अंग नीरोग रहकर मेरे शरीर के साथ रहें।

इसका यह अर्थ भी है कि जिन इन्द्रियों में अपना कार्य करने की शक्ति नहीं है, उन्हें यज्ञ द्वारा वह शक्ति प्रदान करना गोमेध यज्ञ है। यहाँ हम एक आश्चर्यजनक प्रयोग का उल्लेख करना चाहेंगे। इन्दौर निवासी दिवंगत पं० वीरसेनजी वेदश्रमी यज्ञों के विविध प्रयोग किया करते थे। एक बार उन्होंने जन्म से एक गूँगी लड़की पर एक प्रयोग किया। कुछ दिनों तक चलने वाले इस यज्ञ में गूँगी लड़की को बैठाकर विशेष ओषधियों से यज्ञ किया। परिणाम स्वरूप पूर्णाहुति के अन्तिम दिन उस लड़की ने कुछ शब्द उच्चारण किये। पं० वीरसेन जी को यह प्रेरणा

१. the Parsi Religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of Gomez (From Essays on the sacred language-writing and religion.

२. गोमेधस्तावच्छब्दमेध इत्यवगम्यते। गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात्। शब्दशास्त्रस्य ज्ञानमात्रस्य सर्वेभ्यः प्रदानमेव गोमेधोयज्ञः। प्रणववाद प्रकरण २, तरंग ६।

यजुर्वेद के 'वाङ् मे यज्ञेन कल्पताम्' मन्त्रांश से मिली थी। इसमें यही कहा गया है कि मेरी वाणी यज्ञ से समर्थ बने। इसी प्रकार बधिर तथा अन्य अंगों के विकारों पर भी याज्ञिक प्रयोग किये जा सकते हैं।

वेदों में गोहत्या का विधान नहीं है—न केवल यज्ञों में ही, अपितु अन्य कार्यों के लिए भी वेदों में गोवध का विधान है, ऐसा पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी वामपन्थी इतिहासकार कहते हैं। सायण आदि के भाष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है, किन्तु ये सभी आक्षेप वेदों के सत्य अर्थ को न जानने के कारण ही हैं। इन लोगों ने अपनी इच्छा से वेदमन्त्रों के हिंसापरक अर्थ किये हैं, जबकि उनका वास्तविक अर्थ अन्य ही होता है। यहाँ पर ऐसे सभी मन्त्रों को तो नहीं दिया जा सकता, प्रमाण रूप में केवल एक मन्त्र दिया जा रहा है—

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुस्व पीवसा मेदसा च।

—ऋ० १०।१६।७

यह मन्त्र अन्त्येष्टि संस्कार का है। इसके आधार पर कहा जाता है कि मृतक के दाहसंस्कार में एक गाय का वध किया जाता था, क्योंकि उसके मांस से मृतक के शव को लपेटा जाता था। वेदमन्त्र का ऐसा आशय बिल्कुल भी नहीं है। यदि उक्त बात को मान भी लें, तो एक आपत्ति स्पष्ट रूप में दिखलायी दे रही है कि मृतक के शव पर डालने के लिए तो एक गाय का मांस ही पर्याप्त होता है, किन्तु मन्त्र में 'गोभिः' यह बहुवचन कहा गया है। इसका अर्थ है कि अनेक गऊओं के मांस से। अनेक गऊओं की तो यहाँ आवश्यकता ही नहीं है। वस्तुतः यहाँ 'गोभिः' पद मांस का वाचक है ही नहीं। इसका सीधा-सा अर्थ है कि गऊओं के घी से मृतक के शरीर को ढक दिया जाए। यह घी एक या अनेक गऊओं का भी हो सकता है तथा शव को जलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि मृतक के शरीर के भार के बराबर घृत अन्त्येष्टि संस्कार में लगाना चाहिए। शव को चिता पर रख कर इस घी को मृतक के शरीर पर उडेल देते हैं। आज कल भी यह प्रथा देखी जा सकती है। आजकल यद्यपि बहुत अधिक घी शव पर नहीं डालते तथापि कई किलो तो डाल ही देते हैं। वेद के इस आदेश को भारतीय जनता अभी भी निभा रही है, जबकि इन भाष्यकारों ने मन्त्र का अनर्थ ही कर दिया है। इनकी यह आदत है कि बिना प्रकरण ही कहीं से कोई भी ऐसी मनगढन्त बात अपने वेदभाष्यों में मिला देते हैं, जिसका प्रतिपादन उस मन्त्र में नहीं किया गया। यहाँ भी ऐसा ही किया गया है। ऐसा ही एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥

—ऋ० ८।४३।११

उक्षा बैल को तथा वशा गाय को कहते हैं। बस, इसी आधार पर इन लोगों ने इस मन्त्र का अर्थ किया है कि बैल जिसका अन्न है तथा गाय जिसका अन्न है, अर्थात् जिसमें बैल तथा गाय के मांस की आहुति दी जाती है, ऐसी अग्नि की हम स्तुति करें। इसी प्रकार ऋ० २।१६।५ में इन्द्र को वृषभान्न कहा गया है।[१] इसका भी वही अर्थ किया गया है कि वृषभ अर्थात् सांड है अन्न जिसका, वह इन्द्र अर्थात् जो इन्द्र सांड को खाता है। कैसा अनर्थ कर दिया यहाँ पर। इन दोनों स्थानों पर सायणाचार्य ने बिल्कुल ठीक अर्थ किया है। उन्होंने उक्षा का अर्थ अदनीय अर्थात् खाई जाने वाली हवि किया है। अर्थात् जिस हवि को अग्नि में डाला जाता है, अग्नि उसका मानो भक्षण करता है। इसका यह भी अभिप्राय है कि अग्नि में उन्हीं पदार्थों की आहुति देनी चाहिए जो मनुष्य के खाने के योग्य हों। मद्य-मांस आदि की आहुति अग्नि में नहीं देनी चाहिए। सायणाचार्य ने 'वृषभान्नाय' का अर्थ बलवर्धक अन्न वाला इन्द्र किया है। यही अर्थ उचित है; न कि बैल के पक्ष में। इसका अभिप्राय है कि अग्नि में बलवर्धक तथा मनुष्य के खाने योग्य पदार्थों की ही आहुति देनी चाहिए, अन्य की नहीं। यज्ञ सामग्री में दाख, छुआरे, किशमिश, मखाने आदि पदार्थ डाले जाते हैं। ये सभी बलवर्धक हैं। यज्ञ का अग्नि इन्हें खाता है, भस्म करता है। इस प्रकार हमने देखा कि इतने उच्च विचारों वाले वेदमन्त्र का भी इन आक्षेपकर्त्ताओं ने क्या अनर्थ कर दिया। ऐसा केवल इसलिए किया गया कि जिससे यज्ञों में मांस की आहुति का प्रतिपादन किया जा सके तथा वेदों में गोवध को सिद्ध किया जा सके। यह सब इन लोगों का पूर्वाग्रह है।

अश्वमेध—भूल से गोमेध की भाँति अश्वमेध का अर्थ भी घोड़े को मारकर यज्ञ में आहुति देना समझ लिया जाता है, किन्तु यहाँ भी अश्व शब्द के कई अर्थ होते हैं। यथा—सूर्य, अग्नि, विद्युत्, राष्ट्र तथा वीर्य आदि को भी अश्व कहा गया है।[२] राष्ट्र की उन्नति के लिए यत्न करना अथवा यज्ञादि कार्य करना ही अश्वमेध है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द लिखते हैं, "जो न्याय से प्रजा का पालन करता है, वही क्षत्रिय का अश्वमेध कहाता है, किन्तु घोड़े को मारकर उसके अंगों से होम करना अश्वमेध नहीं है।" बाल्मीकि रामायण में राम के अश्वमेध का वर्णन है, किन्तु वहाँ पर भी घोड़े को मार कर होम करना नहीं लिखा है। वहाँ एक घोड़े को सजाकर सारे राज्यों में फेरा गया था। जहाँ-जहाँ वह घोड़ा गया, वहाँ की प्रजा की सुरक्षा तथा उन्नति

१. वृष्णः कोषः पवते मध्व ऊर्मिर्वृषाभान्नाय वृषभाय पवते।
२. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। —शत० १३।१।६।३
वीर्यं वा अश्वः। —शत० २।१।४।२३

राम के अधीन थी, इसका यही अर्थ था। पीछे अश्वमेध का यही रूप प्रचलित रहा है।

वीर्य को भी अश्व कहते हैं, क्योंकि वीर्य में ही शक्ति निहित है। निर्वीर्य व्यक्ति नपुंसक होता है। ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करके उसे वीर्यवान् बनाना ही अश्वमेध है। यह चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा यज्ञ द्वारा की जाती है। आजकल भी ऐसे पुरुष तथा उनकी आधुनिक चिकित्सा विद्यमान है। स्त्रियों का बांझपन तथा पुरुषों का नपुंसकत्व दोष माना जाता है। यज्ञ द्वारा इनकी चिकित्सा करना ही अश्वमेध है। महर्षि गार्ग्यायण के अनुसार ज्ञान को भी अश्व कहते हैं। मेधा का अर्थ है प्राप्ति।[१] इस प्रकार अश्वमेध का अर्थ हुआ ज्ञान की प्राप्ति। ज्ञान की प्राप्ति जिस अध्यपन आदि कार्य से हो, वही अश्वमेध यज्ञ है। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ को मुक्तिदाता माना है। उपनिषदों में ज्ञान को ही मुक्तिदाता कहा गया है। उसे ही यहाँ अश्व कहा गया है।[२]

सूर्य भी अश्व संज्ञक[३] है तथा उसका तपन ही अश्वमेध है।[४] क्षत्र भी अश्व संज्ञक है[५] तथा उसकी वृद्धि करना ही अश्वमेध है। ईश्वर भी अश्व है[६] उसकी प्राप्ति अश्वमेध है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेध को तेजस्वी[७] तथा ब्रह्मवर्चसी[८] यज्ञ कहा है। ऐसे तेजस्वी यज्ञ में हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। सब पदार्थों की प्राप्ति तथा वृद्धि करना ही अश्वमेध शब्द का अर्थ है। महाभारत में महाराज वसु के अश्वमेध का वर्णन किया गया है कि यज्ञ सर्वथा अहिंसक, पवित्र तथा अक्षुण था। इसमें पशुहत्या नहीं की गयी थी।[९]

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर जिन मन्त्रों का पाठ किया जाता है, वे राष्ट्रिय भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके द्वारा राष्ट्रोन्नति के लिए देवों से प्रार्थना की जाती है।

अश्वमेध यज्ञ में जो मन्त्र (ऋ० १।१६२ तथा यजुर्वेद, अ० २५)

---

१. अश्वो हिं ज्ञानम्। मेधा तावत् ज्ञानक्रिया भवति। —प्रणववाद
२. अश्वमेधः परोयज्ञः सर्वमुक्तिप्रदायकः। —वही
३. असौ वाऽऽदित्योऽश्वः। —तै० ३।९।२३।२
४. एष वाऽश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति। —शत० १०।६।५।८
५. क्षत्रं वा अश्वः। —शत० ६।४।४।१२, अथर्व० १२।१।६२
६. ईश्वरो वा अश्वः। —तै० ३।८।९।३
७. एष (अश्वमेधः) वै तेजस्वी नाम यज्ञः। —तै० ३।९।१९।३
८. एष (अश्वमेधः) वै ब्रह्मवर्चसी नाम यज्ञः। —तै०३।९।१९।३
९. तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः।
संभूता सर्वसम्भाराः तस्मिन् राजन् महाक्रतौ॥
न तत्र पशुधातोऽभूत् सराजैवंस्थितोऽभवत्।
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रः निराशी कर्मसंस्तुतः॥ —म०भा०शा०प०अ० ३

बोले जाते हैं, उनमें अश्वविद्या तथा राष्ट्र के संचालन का उपदेश है, न कि अश्व की आहुति देने का। बलि पद ने भी बहुत भ्रान्ति उत्पन्न की है। इसका अर्थ मारकर आहुति देना कर दिया गया। लोक में भी यह इसी अर्थ में प्रचलित है, किन्तु यह अर्थ अशुद्ध है। अथर्ववेद में कहा गया है कि हे मातृभूमि! हम तेरे लिए बलि देने वाले बनें।[१] यहाँ बलि का अर्थ टैक्स आदि के रूप में धनादि देना ही है, न कि प्राण देना।

अजमेध—अज का अर्थ बकरा तथा अवि का अर्थ भेड़ होता है। अत: अजमेध का अर्थ यज्ञ में बकरे की आहुति तथा अविमेध का अर्थ भेड़ की आहुति देना किया जाता है। यह भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि वेदों में कहीं पर भी इन हिंसायुक्त यज्ञों का विधान नहीं है। महाभारत के एक प्रसङ्ग से इतना तो विदित होता है कि हिंसक लोगों का यह पक्ष था कि यज्ञ में बकरे के मांस की आहुति दी जानी चाहिए, किन्तु ऋषियों ने उनकी बात का खण्डन करते हुए कहा कि अज का अर्थ ऐसे बीजों से है, जो भूमि में बोने से अंकुरित नहीं हो सकते। अ+ज=जो जन्म नहीं ले सकते। ऐसे बीजों की आहुति ही यज्ञ में देनी चाहिए, बकरे की नहीं।[२] पञ्चतन्त्र नामक विश्वविख्यात पुस्तक के लेखक विष्णु शर्मा का कथन है कि सात वर्ष पुराने धान को अज कहते हैं, क्योंकि यह अंकुरित नहीं हो सकता। इसकी आहुति ही यज्ञ में देनी चाहिए।[३] यज्ञ में उड़द, जौं तथा चावल आदि अन्न डालने का विधान है। नाम की सदृश्यता से हिंसक तथा मांसाहारी लोगों ने बकरे की आहुति देना प्रारम्भ किया, किन्तु वेदों तथा वैदिक साहित्य में इसका कहीं भी विधान नहीं है।

वेदों में अज का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। यथा–ऋग्वेद में कहा गया है कि अज ने ही द्युलोक तथा पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है।[४] यहाँ अज का अर्थ अजन्मा परमेश्वर ही है। उसने ही द्युलोक तथा पृथिवी लोक को अपने सामर्थ्य से धारण किया हुआ है।[५]

अग्नि में पके अज की आहुति—

अथर्ववेद ९।५।१८ में कहा गया है—"अज: पक्व: स्वर्गे लोके दधाति।" हिंसा के समर्थकों द्वारा इसका यही अर्थ किया जाता है कि पका हुआ अर्थात् यज्ञ में डाला गया बकरा यजमान को स्वर्ग में पहुँचाता

---

१. वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम। —अथर्व० १२।१।६२

२. बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुति:।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥ —महाभारत, शा०प०अ० ३३

३. अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिका: कथ्यन्ते न पुन: पशुविशेषा:।

४. अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्। —ऋ० १।६७।५

५. यो दाधार पृथिवीमुतेमां द्याम्।

है। प्रथम दृष्टि में ही यह अर्थ इसलिए दोषपूर्ण है कि हिंसा से कभी भी स्वर्ग नहीं मिल सकता, क्योंकि यह पाप है। दूसरी बात कि यदि वस्तुत: स्वर्गप्राप्ति इतनी सस्ती हो जाए, तो सभी मनुष्यों के लिए स्वर्ग के द्वार खुल जायेंगे, क्योंकि बकरे को मारकर यज्ञ में डालना कोई कठिन कार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इसे कर सकता है। ऐसा मानने पर तो जप, तप, शुभ कर्म आदि सभी व्यर्थ ही हो जायेंगे।

वस्तुत: यहाँ भी अज का अर्थ परमेश्वर ही है। ये ध्यान की परिपक्व अवस्था में हृदय में धारण किया गया परमेश्वर उपासक को स्वर्ग सुख प्रदान करता है, यह अर्थ तो बुद्धिसंगत एवं शास्त्रानुमोदित है।

अविमेध—अविमेध का अर्थ यज्ञ में भेड़ की आहुति देना किया जाता है, किन्तु यह भी सत्य नहीं, क्योंकि वेदों में कहीं भी भेड़ की आहुति देने का विधान नहीं है। पृथिवी को अवि कहते हैं,[१] क्योंकि वही सबकी रक्षा करती है। उसका मेध=संगमन=प्राप्ति ही अविमेध है। अर्थात् भूमि को उर्वरा बनाकर उपयोग में लेना ही अविमेध है। भेड़ को भी अवि कहते हैं। वेदों में स्पष्ट रूप में भेड़ की हिंसा न करने का आदेश दिया[२], क्योंकि भेड़ ऊन प्रदान करती है। अत: किसी भी रूप में इसकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार यह निश्चित है कि वेदों में कहीं भी इस प्रकार के हिंसायुक्त यज्ञों का विधान नहीं है।

पुरुषमेध या नृमेध—उन्नति तथा वृद्धि के लिए मनुष्यों को संगठित करना ही नृमेध है, न कि मनुष्य की बलि। सामवेद के कुछ मन्त्रों का ऋषि भी नृमेध है।[३] इसका अर्थ मनुष्यों का वधकर्त्ता नहीं हो सकता।

यजुर्वेद अ० ३० में पुरुषमेध का वर्णन माना जाता है। इसमें १८४ वृत्तिजीवियों का उल्लेख है। यदि यहाँ मेध का अर्थ बलि लिया जाए तो इस राष्ट्रिय नरसंहार में कोई भी जीवित नहीं बचेगा। यहाँ भी मेध का अर्थ संगमन ही है। यजुर्वेद से ऐसा ही स्पष्ट है। यथा—''ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्'' (यजु० ३०।५) इसका यही अर्थ है कि ब्रह्मशक्ति की वृद्धि के लिए ब्राह्मण को, क्षात्रशक्ति के लिए राजा को, अन्नवृद्धि के लिए वैश्य को तथा सेवा के लिए शूद्र को नियुक्त किया जाता है। ''तुलायै वाणिजम्'' यजु० ३०।१७। यहाँ भी बिल्कुल स्पष्ट है कि तेल का कार्य करने के लिए वैश्य को तथा ''सरोभ्यो धैवरम्'' (३०।१६) तालाबों का कार्य करने के लिए धीवरों को नियुक्त किया जाता है। आज भी उक्त कार्यों को ये ही लोग करते हैं।

अनुमान यही किया जा सकता है कि यह एक प्रतीकात्मक यज्ञ था,

१. इयं (पृथिवी) वा अविरियं हीमा: सर्वा: प्रजा अवति।—शत० ६।१।२।३३
२. इममूर्णायुं मा हिंसी: परमे व्योमन्।—यजु० १३।५०
३. साम० पूर्वार्चिक ३११, उत्तरार्चिक ८१३।

जो पुरुषमेध कहा जाता था। सम्भव तो यह भी है कि यह यज्ञ किया ही नहीं जाता था, केवल याज्ञिक रहस्यवाद या सिद्धान्त मात्र था।[१] अश्वमेधादि के विषय में डॉ० कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं—

"कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों को भ्रान्ति है कि मेध शब्द केवल बलि (वध) का वाचक है। यजुर्वेद में अश्वमेध आदि शब्द राष्ट्रिय उन्नति की कामना से किये जाने वाले यज्ञों आदि के लिए हैं। इनका अभिप्राय अश्व की बलि देने से नहीं था। इसके लिए पितृमेध शब्द की व्याख्या पर्याप्त होगी। पितृमेध का यह अर्थ कदापि नहीं कि माता-पिता की बलि दी जाए, अपितु मेध शब्द उनकी सेवा, सुश्रूषा, श्राद्ध और तर्पण के लिए है। मेध शब्द श्री वृद्धि, समृद्धि, पोषण आदि के लिए प्रयुक्त होता था।"[२]

वस्तुतः यह भ्रान्ति इसलिए हुई है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मांसप्रकरण एवं यज्ञ में पशु के अंगों को डालने का विधान पाया जाता है। शतपथ में तो विस्तार से पशुविभाग का प्रकरण चलाया गया है कि मारे गये पशु के किन-किन अंगों का क्या-क्या प्रयोग करें। इतना ही नहीं, अपितु कुछ भाष्यकारों ने तो वेद मन्त्रों के अर्थ भी इसी प्रकार के किये हैं कि जिनके आधार पर वेदों में ही हिंसा का प्रतिपादन किया जाता है। विदेशियों तथा अन्य भारतीयों के सामने ऐसे भाष्य तथा ब्राह्मणग्रन्थ ही प्रमाण के रूप में उपलब्ध थे।

नरमेध तो बिल्कुल ही काल्पनिक है। वेदों में कहीं भी इसका विधान नहीं। हाँ पुरुषयज्ञ का वर्णन वेदों में अवश्य है, किन्तु यह नरमेध नहीं है। वेदों में पुरुष के साथ पशु शब्द का प्रयोग भी किया गया है। यजुर्वेद के ३०वें तथा ३१वें अध्यायों के आधार पर वेदों में पुरुषमेध का प्रतिपादन किया जाता है। इस विषय में ३१वें अध्याय का एक मन्त्र सुप्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि यज्ञ की सात परिधियाँ तथा २१ समिधाएँ थी। देवों ने इस यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुष पशु को बाँधा।[३] कालान्तर में इसका यही अर्थ लिया जाने लगा कि यज्ञ में पुरुष पशु को बाँधना चाहिए। इसके लिए यज्ञ में ऊँचे-ऊँचे खम्भे गाड़े जाते थे, जिन्हें यज्ञीय यूप कहा जाता था। इन यूपों के गाड़ने का वेदों में विधान नहीं था। ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ऐसा किया जाने लगा। इसकी प्रक्रिया यह थी कि उन यज्ञयूपों के पास यजमानों को ले-जाकर उन्हें उनमें बाँधने का उपक्रम किया जाता था। उन पर जल के छींटे दिये जाते थे, जिसे शास्त्रीय

---

१. वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० १०३।

२. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ५६।

३. सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ —यजु० ३१।१५

भाषा में प्रोक्षण कहा जाता था। इसके बाद उन पुरुषों को मुक्त कर दिया जाता था। इस समस्त प्रक्रिया का अभिप्राय यह था कि यज्ञ करने वाला पुरुष अपने स्वार्थ आदि पशुत्व के दुर्गुणों को छोड़कर मनुष्यत्व को धारण करे। मनुष्य का अर्थ है—"मत्वा कर्माणि सीव्यति।" अर्थात् विचारपूर्वक उचित-अनुचित को सोचकर कार्य करे, पशु की भाँति कार्य न करे। इस प्रकार इस यज्ञीय प्रक्रिया से यजमान पशुत्व से उठकर मनुष्यत्व को प्राप्त करता था।

शुनःशेप आख्यान एवं नरबलि—

वेदों के मन्त्रों का अनर्थ करके जिस प्रकार यज्ञों में पशुबलि का विधान अज्ञानी वेदज्ञों ने किया, उसी प्रकार नरबलि का प्रतिपादन भी वेदों से किया गया। इस विषय में प्राचीन सायण आदि भाष्यकार भी दोषी हैं। इस सम्बन्ध में शुनःशेप की कथा सुप्रसिद्ध है कि राजा हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। उसने वरुण से प्रार्थना की कि यदि मेरा यह रोग दूर हो जाए तो मैं अपने पुत्र की बलि वरुण को दे दूँगा। राजा का जलोदर रोग दूर हो गया तथा उसे पुत्र की प्राप्ति भी हो गयी। वरुण ने आकर राजा को उसका वचन याद दिलाया। राजा ने कहा कि पुत्र के एक वर्ष का होने पर उसे तुम्हें दे दूँगा। वरुण चला गया तथा एक वर्ष बाद पुनः आया। राजा ने फिर भी बहाना बना दिया। इस प्रकार राजा अपने पुत्र को वरुण को देने से हटता रहा। अन्त में अजीगर्त नामक ब्राह्मण के शुनःशेप नामक पुत्र को राजा ने बलि के लिए खरीद लिया तथा अजीगर्त को इसके बदले में धन दिया।

शुनःशेप को बाँधकर यज्ञ में बलि देने के लिए यज्ञकुण्ड के पास लाया गया, तो शुनःशेप ने अपने को बन्धन-मुक्त करने के लिए वरुण से प्रार्थना की। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४-२५ सूक्तों के आधार पर वेद में नरबलि का प्रतिपादन किया जाता है। इनका देवता वरुण है, किन्तु यहाँ पर वरुण की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता तथा उसके शासन का उल्लेख किया गया है, नरबलि का नहीं। पच्चीसवें सूक्त में तो शुनःशेप की कोई चर्चा ही नहीं है। चौबीसवें सूक्त में पाशमोचन के लिए शुनःशेप कृत प्रार्थना वर्णित है, किन्तु ऐसी प्रार्थना तो कोई भी कर सकता है। सभी व्यक्ति उत्तम, मध्यम तथा अधम के रूप में तीन प्रकार के पाशों से बंधे हैं, वेदों में अन्यत्र भी वरुण से इस पाशमोचन की प्रार्थना की गयी है।[१] बार-बार पाप अथवा कष्ट से मुक्ति की प्रार्थना भी वहाँ पर की गयी है।[२]

१. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। —ऋ० ५।२।१५

२. कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत्। —ऋ० ५।२।९
राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि। —ऋ० ५।२।१४

प्रस्तुत सूक्त की अवतरणिका में सायण ने भी नरबलि का कोई उल्लेख नहीं किया है। जिन मन्त्रों के आधार पर शुनःशेप की बलि का प्रतिपादन किया जाता है, वे इस प्रकार हैं—

शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥

—ऋ० १।२४।१२

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥

—ऋ० १।२४।१३

इन मन्त्रों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि शुनःशेप को हरिश्चन्द्र ने बलि के लिए खरीदा था तथा उसे बाँधकर यज्ञ में बलि देने के लिए लाया गया था। नरबलि के प्रश्न पर पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् अपने ग्रन्थ भारतीय दर्शन में लिखते हैं—"मनुष्यबलि के प्रश्न पर बहुत विवाद हो चुका है। शुनःशेप का आख्यान यह लक्षित नहीं करता कि मनुष्यबलि की आज्ञा अथवा उसका प्रोत्साहन वेदों में पाया जाता है। सामवेद (१।८।९।१) में कहा है—हे देवताओं! हम यज्ञ सम्बन्धी किसी खम्भे का प्रयोग नहीं करते। हम किसी की हिंसा नहीं करते।" विदेशी विद्वान् मैक्डानल भी यही कहते हैं कि नरबलि के प्रमाण वेद में नहीं पाये जाते।[१]

वेदों में यह कथा नहीं है। वहाँ पर शुनःशेप सम्बन्धी सूक्त है तो किन्तु शुनःशेप की बलि का कोई संकेत नहीं है। ऋ० १।२४।१३ के अनुसार शुनःशेप तीन स्थानों से बंधा होने पर आदित्य की स्तुति करता है।[२] ऋ० ५।२।७ में शुनःशेप को एक हजार यूपों में बंधा हुआ कहा गया है।[३] व्यक्ति के लिए १-२ बन्धन ही पर्याप्त है। एक हजार बन्धनों में बंधा होने की बात तो वैसे भी समझ में नहीं आती। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि मन्त्र में पठित यूप पद एकवचन में है, अर्थात् एक यूप से बंधे हुए शुनःशेप को छुड़ाया। एक ही यूप में सहस्र बन्धन किस प्रकार लग सकते हैं? यदि बलि के लिए ही शुनःशेप को बाँधा गया था, तो उसके छूटने का तो प्रश्न ही नहीं था। सायणाचार्य ने इस सूक्त की भूमिका में शुनःशेप की बलि का कोई उल्लेख नहीं किया। उन्होंने केवल यही लिखा है कि तीन स्थानों पर बंधे हुए वरुण ने अदिति के पुत्र वरुण का आह्वान किया।

वस्तुतः यहाँ शुनःशेप की कथा काल्पनिक ही है। इसके माध्यम से

---

१. मैक्डानल, वैदिक रिलीजन, पृष्ठ ५३।

२. शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः। —ऋ० १।२४।१३

३. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः। —ऋ० ५।२।७

बतलाया गया है कि विषयलोलपु जीवात्मा के मन में हजारों इच्छाएँ रहतो हैं। वह इनमें ही बंधा रहता है। इसके अतिरिक्त स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूपी तीनों शरीरों में भी वह बंधा हुआ है। समस्त संसार के नियन्ता एवं दण्डदाता वरुण तथा आदित्य अर्थात् सर्वदा एक रस रहने वाले ज्योतिस्वरूप परमेश्वर की प्रार्थना से ही वह बन्धन से मुक्त होता है।

ऋग्वेद १।२४-२५ के कुछ मन्त्रों में यह कथा अति संक्षिप्त रूप में वर्णित है। एतदतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता (५।२।१३), मैत्रायणी संहिता (३।२१), काठक संहिता (१९।११) तथा बृहद्देवता (२।२।१५ तथा ३।१०३) में भी यह आख्यान उपलब्ध होता है, कात्यायन, आपस्तम्ब, बौधायन, वैतान, शाङ्खायन श्रौतसूत्रों में भी यह कथा प्राप्त होती है। ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३।१८ में तो इसे अतिरंजित रूप में उपबृंहित किया गया है। यह कथानक़ सुप्रसिद्ध है। अत: यहाँ उसे अविकल रूप से उद्धृत न करके उसके निहितार्थ पर विचार किया जाता है।

विल्सन आदि पश्चिमी विद्वान् तथा उनके अनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् शुन:शेप विषयक इन आख्यानों के आधार पर ही प्राचीन काल में यज्ञों में नरबलि का प्रतिपादन करते हैं।

रॉथ एवं मैक्समूलर ने भी विल्सन की उक्त धारणा का समर्थन किया है।[1] विण्टरनिज़ तो कहते हैं कि प्राचीन भारत में नरबलि प्रचलित थी, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है।[2]

शुन:शेप आख्यान के आधार पर नरबलि का प्रतिपादन किसी भी प्रकार उचित नहीं है। यह आख्यान प्रतीकात्मक है। राजसूय यज्ञ के सन्दर्भ में इसके कहने का अभिप्राय यही है कि राजा को देवता तथा प्रजा के प्रति किये गये अपने संकल्प को अवश्य पूर्ण करना चाहिए, अन्यथा वह संकटग्रस्त होगा। वैदिक सूक्तों से तो शुन:शेप के वध को किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वहाँ तो शुन:शेप तीन बन्धनों में बंधा हुआ है, जो राजा वरुण से प्रार्थना करता है कि वह उसे इन बन्धनों से मुक्त कर दे। शतपथ[3] एवं तैत्तिरीय[4] ब्राह्मण में जहाँ राजसूय यज्ञ की चर्चा विस्तार से की गयी है, वहाँ कहीं भी मानवबलि का उल्लेख नहीं है। शतपथ में यह भी कहा गया है कि पुरुषमेध के अन्त में यजमान

1. Maxmuller, A history of India literature, Allah bad, 1926, P-215-220.
2. There can be no doubt the human sacrifices accrued in Ancient India, Histery of India literature University of Culcutta 1927, P-175.
३. शतपथ ब्राह्मण १३।४।२।१
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४

आदित्य की पूजा करते हुए वन में जाकर वानप्रस्थ स्वीकार करता है।[१] वह, पूर्ण पुरुष परमेश्वर के साथ मेध अर्थात् संगमन करता है। उसकी प्राप्ति के लिए शेष जीवन लगाता है। यही है पुरुषमेध का अर्थ। वेदों तथा योगदर्शन आदि में परमेश्वर को अनेक बार पुरुष ही कहा गया है। यह वानप्रस्थ दीक्षा उस यजमान की एक प्रकार से सामाजिक मृत्यु ही है, क्योंकि इसके बाद वह समाज से कोई भी लौकिक सम्बन्ध नहीं रखता। आजकल संन्यास लेने पर इसे व्यक्ति की civil death कहा जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ० हेमन्त पाण्डेय लिखते हैं—'पुरुषमेध के सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वानों के विचार आंशिक ज्ञान पर आधारित हैं, जो तथ्य से संगति नहीं रखते हैं।'[२]

यह भी अवधेय है कि मन्त्र में सहस्राद् तथा यूपात् शब्द एक वचन में पठित हैं[३] अतः यहाँ सहस्र शब्द संख्या का वाचक नहीं हो सकता, अन्यथा यूप में बहुवचन होना चाहिए था। इसीलिए सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या 'अनेक रूपों वाले यूप से युक्त' की गयी है।[४] यदि शुनःशेप को बलि के लिए बाँधा गया था तो उसके मुक्त किये जाने का प्रश्न ही नहीं था। वस्तुतः जीवात्मा लोषैषणा, पुषैषणा तथा विषैषणा रूपी अथवा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूपी तीन शरीरों में बंधा होकर बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। इन्हीं बन्धनों से मुक्त होने की प्रार्थना यहाँ की गयी है।

यह भी सम्भव है कि अज्ञानियों ने यज्ञों में पुरुषवध प्रारम्भ कर दिया होगा। वर्त्तमान काल में भी गुप-चुप रूप में छोटे बच्चों की बलि तान्त्रिकों के कहने पर दे दी जाती है। प्रत्येक काल में ऐसे हिंसक तथा वाममार्गी होते रहे हैं। यहाँ पर हम इस बात को बलपूर्वक कहना चाहते हैं कि यजुर्वेद के उक्त ३०-३१ अध्यायों में इस घृणित नरमेध या पुरुषमेध का वर्णन बिल्कुल भी नहीं है। इन मन्त्रों में जो भाव हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित पुरुषमेध की प्रक्रिया से भी मेल नहीं खाते। वस्तुतः इन अध्यायों में राष्ट्रपुरुष का वर्णन किया गया है। इसीलिए राष्ट्र के विभिन्न भागों तथा विभिन्न राष्ट्रवासियों का नाम ले-लेकर उनकी उन्नति की कामना की गयी है तथा राष्ट्रविरोधियों चोरों आदि को दण्ड देने का विधान किया गया है। राष्ट्र को भी पुरुष कहते हैं, उसका वर्णन ही इन अध्यायों में है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३।६।२।१४
२. वेदविद्या, राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन, Vol. XIX. P. 16।
३. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः। —ऋ० ५।२।७
४. अग्ने नितरां बद्धं शुनःशेपमृषिं सहस्राद् अनेकरूपाद् यूपात् अमोचयः।

इस प्रकार इनमें यहाँ पर गोमेध, अश्वमेध, अजामेध, अविमेध तथा पुरुषमेध के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया है। इन यज्ञों का हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

गाय, घोड़े आदि पशु तथा मनुष्य मार के होम करना कहीं नहीं लिखा। देखो, राजा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देने हारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध, अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना गोमेध-जब मनुष्य मर जाए, तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)।

गोघ्न तथा अतिथिघ्न शब्द—

भ्रमवश इन दोनों शब्दों का अर्थ भी गाय का हत्यारा लगाया जाता है। पहले हम गोघ्न शब्द पर विचार करते हैं। पाणिनि ने सम्प्रदान=देने के अर्थ में गोघ्न का पाठ अष्टाध्यायी ३।२ में किया है। व्याकरण के ग्रन्थ काशिका में इसकी व्याख्या की गयी है—"गावो हन्यन्ते यस्मै स गोघ्नोऽतिथिः न तु चाण्डलादिः।" अर्थात् जिसके लिए गाएँ मारी जाएँ, वह अतिथि गोघ्न है। इसके आधार पर ही कहा जाने लगा कि प्राचीन काल में अतिथि के आने पर उसे मांस खिलाने के लिए गौवें मारी जाती थीं।

यह धारणा बिल्कुल गलत है, क्योंकि वेदों में कहीं भी अतिथि अर्थ में गोघ्न का प्रयोग नहीं मिलता। वेदेतर साहित्य में भी सम्भवतः इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त नहीं है। पाणिनि ने भी अपने सूत्र में केवल गोघ्न का निपातन किया है, वहाँ भी अतिथि पद नहीं लिखा। हाँ, सम्प्रदान कारक में देने के अर्थ में इसे पाणिनि मानते हैं। गाय तो किसी को भी दी जा सकती हैं। विवाह के अवसर पर कन्या का पिता वर को भी गोदान करता है। अतः विवाह प्रकरण में वर ही गोघ्न कहलाएगा, किन्तु यहाँ हन धातु का अर्थ वध नहीं, अपितु प्राप्ति ही है। इस प्रकार अर्थ बनेगा कि जिसे गाय प्राप्त करायी या दी जा रही है, वह वर गोघ्न है। हन का हत्या अर्थ ही हमारे मस्तिष्क में छाया रहता है। इसलिए अतिथि के लिए गोवध की बात कहकर उसे गोघ्न कहा जाता है। यह व्याख्या बिल्कुल ही काल्पनिक एवं लोकव्यवहार के विरुद्ध है। यदि इसका यही अर्थ होता, तो कहीं न कहीं अभी तक भी यह प्रथा जीवित रहती। वेद में यद्यपि गोघातक के लिए गोघ्न का प्रयोग मिलता है तथा उसे प्राणदण्ड देने की बात कही गयी है, किन्तु सम्भव है कि पाणिनि के काल में सम्प्रदान अर्थ में भी इसका प्रयोग होने लगा हो, क्योंकि समयानुसार शब्द विभिन्न अर्थों

में प्रयुक्त होने लगते हैं। पाणिनि ने केवल सम्प्रदान अर्थ में गोघ्न का निपातन किया है। इसका अर्थ गोहत्यारा नहीं माना।

एक बात यह भी विचारणीय है कि आक्षेपकर्त्ताओं के अनुसार यदि वेदों में गो, अश्व, प्रजा आदि पशुओं का मांस खाने तथा यज्ञों में इनके मांस की आहुति देने का विधान है, तो जिस प्रकार गोघ्न शब्द गोघातक के लिए प्रसिद्ध हो गया, उसी प्रकार अश्व हत्यारे के लिए अश्वघ्न तथा प्रजा के हत्यारे के लिए प्रजाघ्न शब्द क्यों प्रसिद्ध नहीं हुए। न तो वेदों में तथा न ही लौकिक साहित्य में अश्वघ्न तथा प्रजाघ्न पद प्राप्त होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पाणिनि द्वारा प्रयुक्त गोघ्न पद गोहत्यारे के लिए नहीं आया अपितु इसका अन्य ही अर्थ है।

वाणी को भी गो कहा जाता है। हन का अर्थ गति=ज्ञान, गमन, प्राप्ति बतलाया ही जा चुका है। अतः गोघ्न का अर्थ हुआ कि जिसके लिए वाणी का उच्चारण किया जाता है, वाणी से जिसका स्वागत सत्कार किया जाता है, जिसके लिए वाणी को संचालित=प्रयुक्त किया जाता है, वह व्यक्ति गोघ्न है। यह अर्थ करने पर गोघ्नोऽतिथि की भी संगति लग जाती है, क्योंकि अतिथि के पधारने पर सर्वप्रथम वाणी द्वारा ही उसका सत्कार किया जाता है। लोक में कभी-कभी कोई शब्द अपना मूल अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ में भी रूढ़ हो जाता है। यथा—महाब्राह्मण का अर्थ महान् ब्राह्मण होना चाहिए, किन्तु लोक में इसका अर्थ चाण्डाल है। इसी प्रकार लोक में किसी भी अर्थ में गोघ्न शब्द प्रचलित रहा होगा। इतना निश्चित है कि वेद में यह सम्प्रदान अर्थ में न होकर कर्त्ता अर्थ में ही है। गाय का हत्यारा ही गोघ्न है तथा इसे प्राणदण्ड की आज्ञा वेद में दी गयी है। यहाँ पर प्रश्न है कि उस समय गोवध किया जाता होगा, तभी तो गोघातक को प्राणदण्ड की आज्ञा दी गयी है। ऐसी बात नहीं है। वेद में तो सम्भावित सभी दुष्कृत्यों का निर्देश करके उनके दण्ड का विधान किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस समय भी वह कार्य होता ही था।

अतिथिग्व शब्द—अतिथिग्व का अर्थ भी अतिथियों को मांस परोसने वाला किया जाता है, जबकि ऐसा अर्थ इसमें से किसी प्रकार भी नहीं निकल सकता। इसमें दो पद हैं—अतिथि+ग्व या गु। इन पदों का अर्थ होता है—अतिथि की ओर जाने वाला। यहाँ मांस का या परोसने का तो नाम भी नहीं है। सभी व्यक्ति अतिथि के आने पर स्वागत तथा मिलने के लिए उसके पास जाते हैं। इसी आधार पर सायणाचार्य तथा महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ 'सेवा के लिए अतिथियों की ओर जाने वाला' किया है।[१] यही अर्थ उचित तथा व्यवहारिक एवं परम्परानुमोदित भी है।

१. योऽतिथीन् गच्छति तं राजादिजनम्। ऋ० ६।१८।१३, दया० भा०, अतिथि-भिर्गन्तव्यम्। ऋ० १।११२।२४ सा० भा०।

मोनियर विलियम नामक पाश्चात्य विद्वान् ने इसका यह अर्थ किया है कि जिसके पास अतिथि जाएँ—whom guests should go. इसलिए अतिथिग्व को अतिथियों के लिए मांस परोसने वाला मानना तो सर्वथा निराधार कल्पना है, न ही इसे प्रमाणों से पुष्ट किया जा सकता। वैदिक संस्कृति में कहीं भी अतिथियों के लिए मांस देने का उल्लेख नहीं है। हाँ, बाइबिल के तोरेत में यह वर्णन अवश्य है कि इब्राहिम ने ईश्वर का आतिथ्य करने के लिए उसे मुलायम बछड़े का मांस तथा रोटी खिलायी थी। इसी संस्कृति से प्रभावित होकर वैदिक संस्कृति को दूषित करने के उद्देश्य से इस प्रकार के आक्षेप लगाये गये हैं।

मेध, आलम्भन तथा संज्ञपन शब्दों पर विचार—

इन तीन शब्दों का वास्तविक अर्थ न समझने से भी वेदों में गोवध आदि का प्रतिपादन किया गया है। धातुपाठ में मेध धातु मेधा, इकट्ठा होना या करना तथा हिंसा अर्थ में पढ़ी गयी है, किन्तु हिंसा अर्थ में इसके प्रयोग अत्यन्त न्यून हैं—जबकि अन्य दो अर्थों में यह बहुधा प्रयुक्त है। इस प्रकार गोमेध, अश्वमेधादि का अर्थ गो तथा अश्व आदि का संगमन=प्राप्ति है, न कि वध करना। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वेद में मेध तथा सम्ज्ञप धातुओं के तिङन्त रूप प्राप्त नहीं होते। कर्मकाण्डियों तथा हिंसक लोगों के कारण मेध का हिंसा अर्थ प्रसिद्ध हो गया, जिस के आधार पर वेदों में गोमेध आदि का प्रतिपादन किया जाने लगा। वह भी तब, जबकि वेदों में कहीं भी गोमेध मिलता ही नहीं है।

आलम्भन—इस शब्द के कारण भी बहुत भ्रम फैला है। वस्तुतः ये दो धातुएँ पृथक्-पृथक् हैं—लाभ तथा लम्भ। इन दोनों धातुओं को हिंसार्थक मानकर कहा जाता है कि वेदों में यज्ञों में पशुहत्या का विधान है। यह सब मिथ्या कल्पना है। वैदिक तथा अन्य साहित्य में आलम्भन तथा 'आलभते' का प्रयोग स्पर्श करने के अर्थ में तथा प्राप्ति करने के अर्थ में हुआ है। यथा—

१. **आचार्यो दक्षिणांसमधि हृदयमालभते** (पा० गृ० २।२।१६) अर्थात् आचार्य शिष्य के दायें कन्धे के ऊपर हृदयदेश का स्पर्श करता है।

२. **वरो वध्वा दक्षिणांसमधि हृदयमालभते** (पा० गृ० १।८।१) वर-वधु के दायें कन्धे के ऊपर हृदय का स्पर्श करता है।

३. **कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्येन प्राशयेत्।** (आश्व० गृ० १।१५।१) नवजात शिशु को दूसरों के स्पर्श होने से पूर्व ही मधु तथा घृत के साथ सुवर्ण खिलाएँ।

४. **न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः** (कठो० १।१।२५) ऐसी वस्तुएँ

मनुष्यों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकतीं।

५. **आलभेतासकृहीन करेण च शिरोसहान्।** (सुश्रुत, कल्पस्थान (१।१९) अर्थात् हाथ से सिर के बालों का स्पर्श करे।

पाणिनीय धातुपाठ में 'डुलभष् प्राप्तौ' धातु है। इस धातु का प्रयोग प्राप्ति अर्थ में पंजाबी भाषा में अभी भी होता है। आङ् उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ स्पर्श हो गया, किन्तु हिंसा अर्थ तो किसी भी तरह नहीं है। वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आलभते पद प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ भी स्पर्श ही है, न कि हिंसा। यजुर्वेद में 'आलभते' क्रिया के पर्याप्त प्रयोग हैं, किन्तु वहाँ इनका अर्थ प्राप्ति ही है, हिंसा नहीं। यथा—"प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते" (यजु० २४।२९) यहाँ यदि हिंसा अर्थ मानें तो अर्थ होगा कि प्रजापति के लिए पुरुषों तथा हाथियों का वध करता है। यह नितान्त ही विपरीत अर्थ है। वास्तविक अर्थ यह है कि इनका स्पर्श, इनकी प्राप्ति करता है। इसी प्रकार 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इस श्रौतसूत्र का अर्थ भी यही है कि अग्निषोमीय पशु को प्राप्त करता है तथा उसके स्वास्थ्य-परीक्षणार्थ उसका स्पर्श करता है। मनु ने ब्रह्मचारी के लिए कहा है कि वह स्त्रियों का देखना तथा आलम्भन न करे।[१] क्या यहाँ हिंसा अर्थ उचित है। ब्रह्मचारी स्त्रियों का स्पर्श न करे, यही संगत अर्थ है।

आलभते का अर्थ वध करना नहीं है, ऐसा हम प्रमाणों से सिद्ध करेंगे। वेदों में कहीं भी हिंसा के अर्थ में इसकी संगति नहीं लगती है। यथा—अथर्ववेद ७।१०९।७ में आया है—"यद् अक्षान् यद् बभ्रून् आलभते।" इसका यही अर्थ है कि बभ्रु रंग के अक्षों का स्पर्श या प्राप्ति करता है। अक्ष जुए के पासों को कहते हैं, उनके साथ वध अर्थ की कोई संगति नहीं बन सकती। इसी प्रकार यजुर्वेद (२४।११) का निम्न मन्त्र भी देखें—"धूम्रान् वसन्ताय आलभते, श्वेतान् ग्रीष्माय, कृष्णान् वर्षाभ्यः०" यहाँ भी वध अर्थ की संगति नहीं लग सकती। इसका यही अर्थ है कि वसन्त में धूम्र वर्ण की, ग्रीष्म में श्वेत वर्ण की तथा वर्षा में कृष्ण वर्ण की वस्तुओं को प्राप्त करता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि ग्रीष्म काल में श्वेत वस्त्र पहनने से गर्मी अधिक नहीं लगती। वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं कि श्वेत रंग की वस्तुएँ प्रकाश तथा गरमी की किरणों को अपने अन्दर न लेकर लौटा देती हैं। जबकि काली वस्तुएँ गर्मी को अपने अन्दर सोख लेती हैं। इसीलिए गर्मी की मौसम में श्वेत वस्त्र पहने जाते हैं, काले नहीं। काले रंग के वस्त्र वर्षा ऋतु में पहनने चाहिएँ। खीर, चावल, दलिया आदि श्वेत पदार्थ भी गरमी की मौसम में प्रिय भोजन है। इसी प्रकार

१. स्त्रीणां च प्रैक्षणमालम्भम् उपघातं परस्य च। —मनु० २।१७९

अन्य एक मन्त्र देखिए—"ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्" (यजु० ३०।५)। यदि यहाँ आलभते का अर्थ वध करना किया जाए तो अर्थ होगा कि ब्रह्म=ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण का तथा क्षत्र=राज्य की प्राप्ति के लिए राजन्य=सैनिक का वध करता है। ऐसा तो कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। हाँ, 'प्राप्ति' अर्थ करने पर मन्त्र का अर्थ होगा कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण को तथा राज्य की प्राप्ति के लिए सैनिक को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह सिद्ध बात है कि वेदों में 'आलभते' का अर्थ वध करना नहीं है। वैदिक कोष निघण्टु में हिंसा अर्थ वाली ३३ धातुओं में आलभ का उल्लेख न होना भी इसी बात का सूचक है। यदि वेद में इसका हिंसा अर्थ होता, तो अवश्य ही ३३ धातुओं के साथ इसका पाठ भी होता। इसलिए वेदों में आलभ का स्पर्श तथा प्राप्ति अर्थ ही उचित है।

उवट आदि भाष्यकारों ने भी अनेक स्थानों पर आलभ का अर्थ स्पर्श करना ही माना है यथा—

"**अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्**" (यजु० ३४।४९)

यहाँ पर उव्वट तथा महीधर दोनों ने ही अन्वालेभिरे का अर्थ स्पर्श करना ही लिखा है।[१] इसी प्रकार मीमांसा दर्शन २।३।९७ सूत्र की व्याख्या में सुबोधिनीकार लिखते हैं—

"वत्सस्य समीपे आनयनार्थमालम्भः स्पर्शो भवति।" अर्थात् बछड़े को गौ के समीप लाने के लिए उसका आलम्भ=स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार वेदों में मूल रूप में आलभ का अर्थ स्पर्श या प्राप्ति ही है।

प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो इसका हिंसा अर्थ कब से तथा किस कारण से प्रारम्भ हुआ? इसका उत्तर यह है कि यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में कई बार इस शब्द का प्रयोग प्राप्ति अर्थ में ही हुआ है, किन्तु एक मन्त्र में कहा गया है—

"अन्तकाय गोघातकम् आलभते।" यद्यपि अर्थ तो यहाँ भी प्राप्ति ही है, किन्तु यह प्राप्ति दण्ड देने के लिए है। मन्त्र कहता है कि गोघातक व्यक्ति को अन्तक=यमराज के लिए प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् उसे दण्ड देने के लिए यमराज को सौंपता हूँ। यमराज को प्राणियों का अन्त करने वाला माना गया है। इसीलिए उसका एक नाम अन्तक भी है। बस, यहीं से आलभते का अर्थ बदल गया तथा इसे वध अर्थ में माना जाने लगा। इससे 'पशून् आलभते' का अर्थ भी पशुओं की प्राप्ति न मानकर पशुओं का वध माना जाने लगा। समाज में व्याप्त हिंसा तथा मांसाहार के कारण श्रौत यज्ञों में भी हिंसकों ने पशुओं की बलि देनी प्रारम्भ कर रखी थी। इसलिए

१. यथा सारथिरिष्टदेशप्राप्त्यर्थं प्रथममश्वरश्मीन् आलभते स्पृशति। (उव्वट भाष्य)

उत्तरवर्ती काल में आलभते को हिंसा अर्थ में ही रूढ माना जाने लगा। इस प्रकार अज्ञानवश आलभतें को वधार्थक मानकर यज्ञों में वेदमन्त्रों के द्वारा पशुहिंसा की जाने लगी। यह उत्तरवर्ती युग की बात है। पुराने समय में ऐसा नहीं होता था। इस विषय में चरक संहिता का निम्न कथन प्रमाण है—

(१) आदिकाल में गो आदि पशुओं को यज्ञ में केवल एकत्रित किया जाता था, उनका वध नहीं किया जाता था। (२) तदनत्तर दक्ष यज्ञ के पश्चात् अरिष्यन् , नाभाक, इक्ष्वाकु आदि मनु के पुत्रों के यज्ञों में मानव पाशविक प्रवृत्तियों के साथ पशुओं की समता होने से यज्ञों में पशुओं का प्रोक्षण होने लगा। (३) तदनन्तर राजा पृषध्र ने जब बहुत दिनों तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया, तो अन्य पशु न मिलने के कारण गौओं का आलम्भन=वध किया गया। यह दुर्दशा देखकर प्राणियों को बहुत कष्ट हुआ। गोमांस भारी, उष्ण, अस्वाभाविक तथा अप्रशस्त था। अतः इससे लोगों की जठराग्नि तथा बुद्धि मन्द पड़ गयी जिस कारण पृषध्र के यज्ञ से अतिसार रोग का आरम्भ हुआ (चरक, चिकित्सा अध्याय १९)।

चरक के इस कथन से निम्न बातें प्रमाणित होती हैं कि (१) प्राचीनकाल में न तो गोवध होता था तथा न ही यज्ञों में मांस की आहुति दी जाती थी।

(२) दूसरी अवस्था में यज्ञ में पशुओं का जलप्रोक्षण किया जाने लगा, अर्थात् यज्ञ में पशुओं को लाकर उनके चारों ओर पानी गिराया जाता था तथा पशुओं पर भी छिड़का जाता था। यह प्रक्रिया यज्ञ का अनिवार्य अंग थी, किन्तु इसमें पशुवध नहीं होता था।

(३) राजा पृषध्र के काल से यज्ञों में पशुवध प्रारम्भ हुआ।

(४) गोमांस से जठराग्नि तथा बुद्धि मन्द पड़ जाती है तथा अतिसार आदि रोग हो जाते हैं। इसलिए यह भक्ष्य नहीं है।

अवदान शब्द—इस शब्द को 'दो अवखण्डने' धातु से निष्पन्न मानकर पशु के विभिन्न अंगों को काटकर यज्ञ में होम करते हैं। यह अशुद्ध है, क्योंकि याज्ञवल्क्य इसे 'देङ् रक्षणे' धातु से निष्पन्न मानते हैं। यथा—तदेनांस्तदवदयते तस्माद् यत्किञ्चनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम (शत० १।७।२।६) अर्थात् आहुतियों का नाम अवदान इसलिए है कि ये यजमान की रक्षा करती हैं।

संज्ञपन शब्द—ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त है तथा अग्निषोमीय यज्ञ के प्रकरण में इसका अर्थ वध करना ही लिया जाता है। उदाहरणार्थ—

(१) घ्नन्ति वा एतत्पशुम्। यदेनं संज्ञपयन्ति। (शत० १३।२।८।२)

(२) यत्र पशुं संज्ञपयत्ति विशासति तत्तं घ्नन्ति। (ऐत० २।६)

यहाँ पशु को काटने तथा उसके अंगों को अलग-अलग करने के अर्थ में ही संज्ञपन तथा विशासन का प्रयोग है, किन्तु वेदों में कहीं पर भी यह पद इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। चारों वेदों में संज्ञपन शब्द केवल निम्न एक स्थान पर आया है—

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥

—अथर्व० ६।७४।२

यहाँ यदि संज्ञपन का अर्थ हिंसा लिया जाय, तो मन्त्रार्थ संगत हो ही नहीं सकता। मन्त्र कहता है—मैं तुम्हारे मन तथा हृदयों का संज्ञपन करता हूँ। मन को कैसे काटा जायेगा, इसी प्रकार भग का जो श्रान्त है, उससे भी किसी को कैसे काटा जायेगा? इस प्रकार मन्त्रार्थ बन ही नहीं सकता।

वस्तुतः यहाँ पर संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञानोत्पादन है। सायणाचार्य ने मन्त्र की यही व्याख्या की है कि मैं तुम्हारे मन तथा हृदय को सम्यक् ज्ञानयुक्त करता हूँ तथा भगसंज्ञक देव का जो श्रान्त=श्रमजनित तप है, उससे भी तुम्हें समान ज्ञान से युक्त करता हूँ। इस प्रकार पूरा मन्त्रार्थ संगत हो गया। न ही इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति है।

इस मन्त्र से पहला मन्त्र भी इसी अर्थ का समर्थक है। यथा—

सं वः पृच्यन्तां तन्व१ः सं मनांसि समु व्रता।

—अथर्व० ६।७४।१

सायणाचार्य इसकी यही व्याख्या करते हैं कि हे मनुष्यों! तुम्हारे शरीर, मन तथा कर्म परस्पर अनुराग से युक्त हों। यहाँ 'पृची सम्पर्के' धातु है। अतः उक्त अर्थ ही संगत है। इससे अगले मन्त्र में संज्ञपन शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि तुम्हारे शरीर, मन, हृदय आदि न केवल परस्पर अनुराग युक्त ही हों, अपितु वे संज्ञपन=समान ज्ञान से भी युक्त हों। इसी प्रकार इस सूक्त के तृतीय मन्त्र में कहा गया है—

इमान् जनान् संमनसस्कृधीह॥ —अथर्व० ६।७४।३

इन मनुष्यों को समान मन वाला करो। इस प्रकार पूरे सूक्त का मन्त्रार्थ संगत हो गया। इस सूक्त से पहले सांमनस्य सूक्त में भी सम् पूर्वक 'ज्ञा' धातु का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में ही किया गया है। यथा—

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

—अथर्व० ६।६४।१

सायणाचार्य इसकी यही व्याख्या करते हैं—हे मनुष्याः! यूयं सं

जानीध्वम्=समान ज्ञानयुक्ताभवत। सं जानानाः=समानज्ञानाः समान कार्य-ज्ञानाः देवाः। इस प्रकार इन सूक्तों में संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञान सुस्पष्ट है।

शतपथ में संज्ञपन शब्द बतलाने के अर्थ में भी प्रयुक्त है। यथा—

अहं मनसः श्रेयसी अस्मि। यद्वै त्वं वेत्थाहं वि ज्ञापयामि अहं संज्ञपयामीति। (शत० का १, अ ४)

वाणी मन से कहती है कि जो तू जानता है, उसे मैं कहती हूँ (संज्ञपयामि)। बिल्कुल संगत अर्थ है।

वेदों में हिंसा निषेध—

वेदों में निरपराध मनुष्यों तथा पशुओं की हत्या का निषेध किया गया है। यथा—

१. **मा हिंसीः पुरुषम्** (यजु० १६।३) किसी पुरुष की हिंसा मत करो।
२. **मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः** (यजु० १२।३२)
   विस्तार को धारण करने वाली प्रजा की हिंसा मत कर।
३. **मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्** (यजु० १३।४७) यहाँ मनुष्य को दो पैर वाला पशु कहकर उसकी हिंसा का निषेध किया गया है।

वेदों में पशुहिंसा का निषेध—

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्। (यजुर्वेद १३।४८)

अर्थात् बिना फटे हुए एक खुर वाले प्राणी का वध मत करो। घोड़ा ही एक अर्थात् बिना चिरे हुए सम्पूर्ण खुर वाला प्राणी है। इसी प्रकार भेड़ के विषय में कहा गया है—

अविं मा हिंसीः (यजु० १३।४४)

भेड़ की हिंसा मत करो।

गाय को तो वेद में साक्षात् अघ्न्या[१] तथा अदिति कहा गया है। इन दोनों शब्दों का अर्थ वध के अयोग्य है। यथा—

१. **गां मा हिंसीरदितिं विराजम्।** (यजु० १३।४३)
२. **घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने.... मा हिंसीः।** (यजु० १३।४९)
   यह गाय घृत को उत्पन्न करती है। इसे मत मारो।

मा गामनागामदितिं वधिष्ट। (ऋ० ८।१०१।१५)

गो आदि पशु हत्या का इतना स्पष्ट निषेध होते हुए भी जो दुष्ट हत्यारे मनुष्यों तथा पशुओं का वध करते हैं, उनके लिए दण्ड का विधान करते हुए वेद कहता है कि यदि कोई दुष्ट गाय, अश्व तथा पुरुष आदि

१. दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धताम् महते सौभगाय। (ऋ० १।१६४।२७)

की हत्या करता है तो उसे गोली मार देनी चाहिए।[१] इसी प्रकार यजुर्वेद में कहा गया है—

अन्तकाय गोघातकम्। (यजु० ३०।१८)

गोघातक को प्राणदण्ड दो।

वेद में तो गो आदि प्राणियों तथा मनुष्यों के हत्यारों के सामाजिक बहिष्कार एवं दण्ड का भी विधान किया गया है। यथा—

१. **आरे गोहा नृहा वधो वोऽस्तु।** (ऋ० ७।५६।१७)

२. **आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नम्।** (ऋ० १।११४।१०)

३. **यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्तः परःश्वा।** (यजु० २२।५)

अर्थात् गोघातक तथा मनुष्य घातक हमसे दूर रहें। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। देव–असुर, हिंसक–अहिंसक, दुष्ट–सज्जन, मांसाहारी–शाकाहारी सब इसी संसार में तो रहते हैं। मांसाहारी न केवल पशु–पक्षियों का ही, अपितु मनुष्यों का मांस भी खाते हैं। उत्तरप्रदेश के नोएडा में सुरेन्द्र कोली तथा पण्डेर नरमांसभक्षण के दोषी पाये गये थे। कुछ सभ्य कहलाने वाले व्यक्ति घरों में या होटलों में पका हुआ मांस खाते हैं, तो कुछ वन में रहने वाले जंगली लोग कच्चा मांस ही खा जाते हैं। अण्डों का तो आज ऐसा दुष्प्रचार हो रहा है कि मांस न खाने वाले भी अनेक व्यक्ति अण्डे खाते हैं। साथ में यह प्रचार भी किया जाता है कि अण्डा तो शाकाहारी भोजन है। यह सब भ्रान्ति है। अण्डे के अन्दर घोल में चूजे को उत्पन्न करने की ऐसी ही शक्ति है जैसी कि स्त्री के भ्रूण में सन्तान को उत्पन्न करने की। अतः जिस प्रकार भ्रूणहत्या पाप है, उसी प्रकार अण्डा खाना भी पाप है। कोई भी अण्डा शाकाहारी नहीं होता। वेद में इस प्रकार के सभी कच्चे–पक्के मांस–भक्षियों तथा अण्डा-भक्षियों के विनाश का उपदेश दिया गया है।[२] जो वेद इनके नाश का विधान कर रहा है, वह भला गो आदि पशुओं की हत्या का समर्थक कैसे हो सकता है। अतः वेदों में कहीं भी गो आदि पशुहत्या का विधान नहीं है।

पशुओं से हमें क्या ग्रहण करना चाहिए, वेद इसका उपदेश देते हुए कहता है—

१. **पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥** —अथर्व० १९।३१।५

१. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ (अथर्व० १।१६।४)

२. य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये कविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ (अथर्व० ८।६।२३)

२. पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
—अथर्व० ४।२७।३

गो आदि पशुओं से दूध, ओषधियों से तथा घोड़े से शक्ति तथा वेग को हम धारण करते हैं। ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया कि गाय तथा घोड़े आदि से मांस ग्रहण करना चाहिए। ये पशु दूध देने तथा सवारी आदि कार्यों के लिए ही उत्पन्न किये गये हैं, मांस खाने के लिए नहीं। गाय तथा अश्व की तो वेद में बहुत प्रशंसा की गयी है, क्योंकि गाय का दूध ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। गाय को सूर्यपुत्री कहा जाता है। गाय की पीठ की चमड़ी में ही ऐसी शक्ति है कि गाय सूर्य के गुणों को ग्रहण कर लेती है। इसीलिए गाय का दूध तथा घी पीला होता है, अन्य किसी भी प्राणी का दूध तथा घृत ऐसा नहीं होता। अश्व सर्वाधिक वेगवान् तथा शक्तिशाली है। हम स्वयं भी इसी प्रकार के शक्तिशाली तथा वेगवान् बनें, यह उपदेश भी दिया गया है।

वेदों में राजा के नामों में गोप तथा गोपति शब्द आये हैं। इसका अर्थ है कि राजा गोओं का स्वामी तथा रक्षक होता है। गोओं की रक्षा करना उसका धर्म है अन्यथा महर्षि दयानन्द के अनुसार गो आदि पशुओं के विनाश से राजा और प्रजा नष्ट हो जाते हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि हे राजन्! तेरी प्रशंसा करने वाले गौओं के सखा हों। गोघातक तेरे प्रशंसक न हों। गो के पर्यायवाचियों में 'अही' शब्द भी है। इसका भी यही अर्थ है कि गो अहन्तव्य है।

यहाँ पर प्रयुक्त संज्ञपन तथा संज्ञपयामि पदों का अर्थ किसी भी दृष्टि से हिंसापरक नहीं किया जा सकता। इस आधार पर यज्ञों के प्रसंग में भी संज्ञपयामि का अर्थ मिलाना ही होगा, वध करना नहीं।

पच, हन आदि धातु तथा पशुहत्या—वेदों में पच, हन तथा अद् आदि धातुओं का प्रयोग भी गो आदि के साथ किया गया है। इस आधार पर कहा जाता है कि वेदों में पशुओं की हत्या, उनके पकाने तथा खाने का विधान है यह भी मिथ्या दोषारोपण है, क्योंकि वेद में इन धातुओं के वे अर्थ नहीं हैं जो कि लोक में हैं। इन पर विचार किया जाता है—

(१) **पच धातु का प्रयोग**—वेदों में गो, वृषभ, अश्व आदि के साथ अनेक स्थानों में पच धातु का प्रयोग=पचति किया गया है। इसका मोटा-सा अर्थ यही कर लिया गया कि यज्ञ के लिए अथवा मांस के लिए इन पशुओं को पकाया। यद्यपि लोक में पच का अर्थ पकाना भी है, किन्तु अन्य कई अर्थों में भी पकाने शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा—उस दुष्ट की बातें सुनकर कान पक गये। सिर के बाल पक गये। बड़ी उम्र

१. स्तोता ते गोसखा स्यात्। (अथर्व० २०।२७।१)

में यह भी कहा जाता है कि अब यह व्यक्ति पक गया। दो व्यक्ति एकान्त में बात कर रहे हों, तो कहा जाता है कि क्या खिचड़ी पक रही है। यहाँ सर्वत्र पकने का अर्थ आग में पकना नहीं है। इसी प्रकार वेदों में भी यदि अश्व आदि के साथ पच=पकाने का प्रयोग होता है, तो वहाँ भी इसका अर्थ उनके मांस को पकाना नहीं लेना चाहिए।

(२) **हन धातु**—इसी प्रकार की हन धातु है, जिसका अर्थ मारना भी है तथा गति अर्थ भी है। लोक में भी ऐसे प्रयोग होते हैं। यथा—कुञ्जं हन्ति वानरः=बन्दर धूप से व्याकुल होकर कुञ्ज में जा रहा है। आचार्य यास्क ने अपने ग्रन्थ निघण्टु का निर्वचन भी हन धातु से किया है। निघण्टु में वेदों के शब्द अच्छी प्रकार संगृहीत पठित है। इसलिए इसे निघण्टु कहते हैं। नि+हन्+तु=निघण्टु। इस प्रकार यहाँ हन धातु का प्रयोग पाठ=पढ़ने के अर्थ में है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहने या पढ़ने के अर्थ में हन धातु का प्रयोग दिखलाया है। यथा—"ब्राह्मणे इदम् आहतम्।" अर्थात् यह बात ब्राह्मण ग्रन्थ में कही गयी है। यहाँ हन धातु का प्रयोग कहने के अर्थ में है, वध अर्थ में नहीं। वेदों में गमन के अर्थ में भी हन के अनेक प्रयोग मिलते हैं। यथा—अथर्ववेद ६।७० सूक्त में कई बार निहन्यते का प्रयोग जाने के अर्थ में ही हुआ है। यथा—

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।

यहाँ पर मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति बतलायी गयी है कि कुछ व्यक्तियों का मन मद्य, मांस, जुआ तथा स्त्रियों की ओर जाता रहता है (निहन्यते)। इस प्रकार गति अर्थ में हन धातु के अनेक प्रयोग हैं। गो, अश्व आदि के साथ हन का प्रयोग होने पर भी गति अर्थ ही लेना चाहिए, न कि वध अर्थ, क्योंकि वेदों में अन्यत्र गो आदि प्राणियों की हत्या का स्पष्ट निषेध किया गया है। वेद अपनी ही बात का खण्डन नहीं कर सकता। एक स्थान पर पशुरक्षा का उपदेश देकर दूसरे स्थान पर पशुवध की बात नहीं कर सकता।

(३) **अद् धातु**—तीसरे अद् धातु में इसका अर्थ 'खाना' होता है। गो, अश्व आदि के साथ अद् के प्रयोगों को देखकर कहा जाता है कि वेदों में गो आदि पशुओं का मांस खाना लिखा है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। लोक तथा वेद दोनों में ही अद् का प्रयोग अन्य अर्थों में भी किया जाता है। यथा—

मेरा सिर मत खाओ।
सिपाही रिश्वत खाता है।
मेरा सिर क्यों खा रहे हो।

उसने मार खायी।

इत्यादि प्रयोगों में खाने का अर्थ मुख से खाना नहीं है। इसी प्रकार वेदों में सर्वत्र अद् धातु खाने के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं है। यज्ञों में पशुबलि न देने के सम्बन्ध में निम्न तर्क भी ध्यान रखने योग्य हैं—

१. यज्ञ में प्रायः घी तथा सोम की आहुतियों का उल्लेख है, किन्तु पशुओं की आहुतियों का नहीं।

२. जिस प्रकार सोम की आहुति तैयार करने का विधान किया गया है, उस प्रकार पशुमांस की आहुति तैयार करने का नहीं।

३. यज्ञ में पवित्रता अनिवार्य है। पशुहत्या से वह सम्भव नहीं।

४. पशुहत्या के आधार पर स्वर्ग-प्राप्ति की बात कहना बिल्कुल धोखा है।

५. ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम के साथ पशुयाग का उल्लेख होने से यज्ञों में पशुहत्या का भ्रम हुआ। ऋग्वेद में कहीं भी सोम के साथ पशुबलि का उल्लेख नहीं है। वहाँ पशु का अर्थ पुरोडाश ही है, गो आदि पशु नहीं।

वेदभाष्यकारों का दोष—यज्ञों में पशुहिंसा का एक प्रबल कारण यह भी रहा है कि वेदों के उव्वट, महीधर, सायण आदि भाष्यकारों ने ऐसे अर्थ भी किये हैं, जिनमें यज्ञ में अश्व आदि पशु का वध करके उसकी आहुति देने का विधान उन्होंने किया है। वेद पर जनमानस की श्रद्धा थी। जब वेदमन्त्रों का इस प्रकार का अर्थ किया जाने लगा, तो जनता ने उसे वेदविहित समझकर अपना लिया। महीधर आदि ने अनेक मन्त्रों के हिंसापरक अर्थ ही किये हैं। यहाँ पर उन सबको विस्तार के भय से उद्धृत न करके एक-दो प्रमाण देना ही पर्याप्त होगा। साथ ही यह भी दिखलाया जाएगा कि उन मन्त्रों का महर्षि दयानन्द ने क्या अर्थ किया है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १७२-१७३ सूक्तों की अश्वमेध परक व्याख्या करके सायण आदि ने यहाँ पर यज्ञ में अश्व का वध स्वीकार किया है। इनमें १७३ सूक्त का देवता 'अश्वोऽग्निः' है। इन सूक्तों में आदित्य, विद्युत् तथा अग्नि के गुणों का वर्णन किया गया है। विद्युत् अग्नि तथा आदित्य को भी अश्व कहते हैं।[१] इन सूक्तों में इस प्रकार के मन्त्र हैं कि जिनका अर्थ घोड़े के पक्ष में किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। यथा—एक मन्त्र में कहा गया है कि हे अर्वन्! तेरे सींग अनेक स्थानों में फैले हुए हैं।[२] सायण ने अर्वन् का अर्थ तो घोड़ा कर दिया, किन्तु उसके सामने समस्या थी कि घोड़ा तो सींगों वाला नहीं होता।

१. अग्निरेष यदश्वः। (शत० ६।३।३।२२); अप्सुजा (विद्युत्) उ वा अश्वः। (तै० ३।८।४।३); असौ वा आदित्योऽश्वः। (तै० ३।९।२३।२)

२. तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रा तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।

इसीलिए उसे लिखना पड़ा कि शिर से निकलने वाले केश ही यहाँ शृङ्ग कहे गये हैं। यह अर्थ करने पर भी समस्या है कि घोड़े के सिर के केश भी तो सभी स्थानों पर फैले हुए नहीं हैं, अपितु केवल घोड़े के सिर पर ही फैले हैं।

वस्तुतः यहाँ न तो अर्वन् का अर्थ घोड़ा है तथा न ही शृङ्ग का अर्थ सींग है। आश्चर्य का विषय है कि सायण जैसे पण्डित को भी यह बात न सूझी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्नि को ही अर्वन् कहा गया है।[१] विद्युत् रूप में भी अग्नि ही है। अर्वन् में 'ऋ' धातु गति तथा प्राप्ति अर्थ में है। घोड़े को भी अति गतिशील होने के कारण अर्वन् कहते हैं। अग्नि-विद्युत् तथा सूर्य भी अत्यन्त गतिशील होने के कारण अर्वन् तथा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण अश्व संज्ञक हैं। १६३वें सूक्त का देवता=शीर्षक ही बतला रहा है कि इसमें अग्निरूपी अश्व का वर्णन है। विद्युत् तथा सूर्य भी अग्नि रूप ही हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में अग्नि सूर्य तथा विद्युत् का ही वर्णन है। इस पक्ष में शृङ्ग पद की संगति भी लग जाती है। सींग को शृङ्ग इसलिए कहते हैं कि वे पशुओं के सिर में उनकी रक्षार्थ निकले होते हैं अथवा उनसे पशु अपने शत्रु की हिंसा करते हैं।[२] सूर्य की किरणें भी रोगों तथा रोगोत्पादक कीटाणुओं की विनाशक होने के कारण शृङ्ग कही जाती हैं। ये सूर्य किरणें सर्वत्र फैल जाती हैं। इस मन्त्र में अर्वा के चित्त को वायु के समान वेगवान् कहा गया है—'तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।' यह विशेषण विद्युत् की ओर संकेत करता है, क्योंकि विद्युत् अति शीघ्रगामिनी है। मन्त्र ९ में कहा गया है कि यह अश्व हिरण्यशृङ्गः अर्थात् सुवर्ण के समान सींगों वाला है।[३] अश्व तो सींगों वाला होता नहीं, किन्तु विद्युत् तथा सूर्य की किरणें सुवर्ण वर्ण की होती हैं, इनका वर्णन ही मन्त्र में किया गया है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र का अर्थ विद्युत् परक ही किया है। १६३ सूक्त के तृतीय मन्त्र में स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि यह अश्व यम भी है तथा आदित्य भी है तथा तीन स्थानों में गया हुआ है।[४] वायु को भी यम कहते हैं। इस प्रकार अर्थ बना कि वायु तथा आदित्य पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक—इन तीनों लोगों में व्याप्त हैं।

इस प्रकार इन सूक्तों में अग्नि, विद्युत् तथा आदित्य का ही वर्णन है किसी घोड़े का नहीं, जिसकी आहुति यज्ञ में दी जाए। इन सूक्तों के मन्त्रों का इसी प्रकार अनर्थ करके तथा अश्व के वास्तविक स्वरूप को न समझ

१. अग्नि वा अर्वा। (तै० १।३।६।४)
२. शृङ्ग श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेर्वा, शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा। (नि० २।७)
३. हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा। (ऋ० १।१६३।९)
४. असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन। ऋ० १।१६३।३

कर भाष्यकारों ने इन सूक्तों के द्वारा यज्ञ में घोड़े को मार कर आहुति देना लिखा है, जबकि मन्त्रों में ऐसा नहीं कहा गया है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक स्थानों पर इन भाष्यकारों ने वेद के वास्तविक अर्थ को न समझकर वेदों में अश्व, अजा तथा गो आदि के वध एवं यज्ञों में उनकी मांस की आहुति का प्रतिपादन विस्तार से किया है। यहाँ इन सभी मन्त्रों को नहीं दिखलाया जा सकता। खेद का विषय है कि आधुनिक युग में भी अनेक विद्वान् तथा अन्य उच्चपदस्थ व्यक्ति इस प्रकार के दूषित भाष्यों का समर्थन करते हैं। वेदों में पशुवध को सिद्ध करने के लिए इन लोगों ने वेदों का कैसा अनर्थ किया है, इसका एक प्रमाण यहाँ दिया जाता है—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥

—ऋ० १।१६२।१२

सायण आदि भाष्यकारों ने इसका यह अर्थ किया है कि जो पके हुए घोड़े को देखते हैं तथा कहते हैं कि इसकी गन्ध बहुत अच्छी है। जो घोड़े के मांस की भिक्षा करते हैं, उनका उद्यम हमें प्राप्त होवे। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के मांस की आहुति का विधान माना जाता है। यह अज्ञानमूलक है। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का ऐसा चमत्कारी अर्थ किया है, जो उनकी ऋषिबुद्धि को प्रमाणित करता है। मन्त्र के पद मांसभिक्षा का पदपाठ इस प्रकार है—मांसऽभिक्षा। इसके अनुसार पहला अर्थ बिल्कुल ही उलट गया। स्वामीजी लिखते हैं कि जो व्यक्ति अर्वतः=प्राप्त हुए प्राणी की मांस अभिक्षा अर्थात् मांस की अप्राप्ति को स्वीकार करते हैं, अर्थात् मांसाहारी नहीं हैं, उनका उद्यम हमें प्राप्त होवे। इस प्रकार न केवल अश्व का ही, अपितु समस्त प्राणियों के वध का निषेध यहाँ किया गया है। 'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वम्' इस मन्त्रांश का अर्थ स्वामीजी करते हैं कि जिसमें बहुत से वाजी अर्थात् शक्तिशाली खाद्यपदार्थ विद्यमान हैं, ऐसे पके हुए अन्न को जो लोग देखते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में किसी भी प्राणी की हत्या का कोई संकेत भी नहीं है।

महीधर, सायण आदि वेदभाष्यकारों के अशुद्ध अर्थों के कारण समाज में किस प्रकार पशुहिंसा का प्रचार हुआ तथा उसे वेदोक्त सिद्ध किया गया, इसके लिए यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

ऋषिकेश में एक व्यक्ति गंगा के किनारे एक बकरे को खड़ा करके उसके चक्षु, कान आदि अंगों पर गंगाजल छिड़कते हुए यह वेदमन्त्र (यजु० ६।१४) बोल रहा था—।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि।

इस प्रकार पूरा मन्त्र बोलकर बकरे के श्रोत्र आदि अंगों पर जल

छिड़कने के उपरान्त उस व्यक्ति ने गंडासे से बकरे का सिर धड़ से अलग कर दिया। गुरुकुल के स्नातक पं० सुरेन्द्रजी आयुर्वेदालंकार इस दृश्य को देख रहे थे। उन्हें कौतुहल तो अवश्य था, किन्तु स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं थी कि यह व्यक्ति मन्त्र बोलकर बकरे की हत्या कर देगा। जब पण्डितजी ने उससे ऐसा करने का कारण पूछा, तो उस व्यक्ति ने झट से उत्तर दिया कि मैंने यह कार्य वेद के आधार पर ही तो किया है। उसका यह कहना इसलिए ठीक था क्योंकि महीधर ने इस मन्त्र का विनियोग इसी प्रकार बकरे के अंगों का गंगाजल से मार्जन करने में किया है। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। ऐसे गलत अर्थों के कारण ही वेदों में पशुवध का प्रतिपादन किया गया, जो उचित नहीं है।

यह मन्त्र वस्तुतः आचार्य द्वारा तब बोला जाता है, जब कोई नया ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट होता है। बाह्य वातावरण के कारण उस छात्र में कुछ दोष हो सकते हैं। आचार्य इस मन्त्र को बोल कर छात्र को कहता है कि मैं तुम्हारे सभी अंगों से दोषों को दूर करके तुम्हें निर्दोष तथा जल के समान पवित्र बनाता हूँ। मन्त्र के इस उच्च आदर्श को भूल कर इसे पशुहिंसा में लगा दिया गया। यह सब वेदभाष्यकारों के द्वारा किये गये गलत वेदभाष्यों के कारण हुआ है। इस प्रकार इन भाष्यकारों के अर्थ भी वेदों में हिंसा के आक्षेप के कारण रहे हैं।

वेदभाष्यकारों से गलती क्यों हुई—

प्रश्न है कि महीधर तथा सायण आदि वेदभाष्यकारों ने वेदों के ऐसे आक्षेप-योग्य अर्थ किसलिए किये? इसका एक कारण तो यह है कि उस समय वाममार्ग का प्रचार प्रचण्ड रूप में चल रहा था। वाममार्गियों के मद्य, मीन, मांस, मुद्रा तथा मैथुन ये पञ्चमकार सुप्रसिद्ध हैं। इनका ही प्रभाव वेदभाष्यकारों पर पड़ा। कोई भी साहित्य तत्कालीन सामाजिक विचारों से अछूता नहीं रह सकता। उस समय वेदों के पशुहिंसापरक भाष्य आदर का पात्र बने। सायणाचार्य विजयनगर गोलकुण्डा के राजा वुक्क के मन्त्री थे। उन्होंने ही इन्हें वेदभाष्य के कार्य में लगाया था।

इसका दूसरा ठोस कारण यह है कि यद्यपि वेदों के सभी शब्द अनेकार्थक हैं, तथापि कुछ ऐसे विशेष शब्द हैं, जो अत्यधिक अर्थविस्तार को धारण किये हुए हैं तथा जिनके वास्तविक अर्थ को न समझने के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया। उन शब्दों पर विचार करने से पूर्व हम कुछ ऐसे शब्दों को यहाँ उपस्थित करते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अर्थों के वाचक बन जाते हैं। प्रत्येक शास्त्र के सन्दर्भ में एक ही शब्द का अलग-अलग अर्थ होता है। यथा—दर्शनशास्त्र में गुणपद के द्वारा सत्व, रजस् तथा तमस् नामक तीन गुणों का ग्रहण होता है, जब कि व्याकरण-

शास्त्र में गुण पद अ, ए, ओ इन तीन वर्णों का वाचक है। लोक में गुण से व्यक्ति की विशेषताओं का ग्रहण होता है, जब कि साहित्यशास्त्र में रस्सी को भी गुण कहते हैं। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में आ ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा है, जब कि लोक में बढ़ने को वृद्धि कहते हैं। लोक में अजा का अर्थ बकरी है, जब कि दर्शनशास्त्र में प्रकृति को अजा कहते हैं। पाणिनीय व्याकरण में कुछ शब्दों की 'टि' संज्ञा की गयी है, जब कि अंग्रेजी भाषा में चाय़ को टि कहते हैं। यदि कोई व्याकरण पढ़ते समय 'टि' से चाय का ग्रहण करने लगे तो यह उसकी मूर्खता ही कही जायेगी। वेद के शब्दों को समझने में भी यही गलती हुई है। यथा—

(१) **गो**—लोक में यह गाय नामक पशु का वाचक माना जाता है यहाँ पर इसका मुख्य अर्थ यही है, किन्तु वेद में गो का मुख्य अर्थ पृथिवी है। यास्काचार्य ने इसे पृथिवी वाचक नामों में ही पढ़ा है वहाँ पर निघण्टु में पृथिवी के वाचक नाम गिनाए गये हैं। पृथिवी को गो क्यों कहते हैं, क्योंकि यह निरन्तर घूमती रहती है तथा मर कर सभी प्राणी पृथिवी में ही विलीन हो जाते हैं। गाय को भी गमन करने के कारण गो कहा गया, किन्तु अन्य प्राणियों को नहीं। इसके अतिरिक्त वेद में धनुष की डोरी, वाणी, सूर्य आदि की किरणें तथा गाय से उत्पन्न पदार्थों दूध आदि को भी गो कहा गया है। वेद में गो के साथ यदि कहीं मारने अर्थ वाली हन् धातु का प्रयोग हो तो उसका अर्थ गोवध कदापि नहीं है। 'ब्राह्मण की गो को कोई नहीं मार सकता' का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण की वाणी को कोई दबा नहीं सकता। योगी लोग ध्यान की अवस्था में गोरस का पान करते हैं, इसका अर्थ उनकी भाषा में यह है कि ध्यान के समय जीभ को उलट कर तालु से लगाने पर वहाँ से निकलने वाले रस का पान योगी लोग करते हैं। इसी प्रकार 'मधासु हन्यन्ते गावः' मघा नक्षत्र या माघ मास में गावः अर्थात् गोवें मारी जाती हैं, इसका यह अर्थ है कि माघ मास में सूर्य की किरणें अत्यन्त कमजोर हो जाती हैं। इस प्रकार गो पद का अर्थ सर्वत्र गाय करने से वेदों में गोहत्या की भ्रान्ति हुई है।

(२) **वृषभ**—वृषभ भी इसी प्रकार का शब्द है। यह श्रेष्ठ का भी वाचक है। लोक में यह बैल का वाचक है, किन्तु वेद में शब्द तथा बादल को भी वृषभ कहते हैं[१], क्योंकि बादल वर्षा के द्वारा भूमि को सींचता है। वृषभ में वृष धातु सींचने के अर्थ में ही है। वेद में आता है कि इन्द्र के लिए वृषभ को पकाया तथा इन्द्र वृषभों को खाता है। भाष्यकारों ने इसका यही अर्थ कर दिया कि देवों का राजा इन्द्र बैल का मांस खाया करता था। यह कैसा अनर्थ किया है? इन्द्र सूर्य को कहते हैं तथा वृषभ बादल को।

१. वर्षणाद् वृषभः। नि० ९।२२

इन्द्र सूर्य वृषभ मेघ को नष्ट कर देता है। सूर्य की किरणों से तपने पर ठण्डी वायु का स्पर्श पाकर ही वर्षा होती है। यही इन्द्र का वृषभ को पकाना तथा खाना है। इस रहस्य को न समझ कर आक्षेप किया जाने लगा कि देवों का राजा इन्द्र बैल का मांस खाता था। कितने अज्ञान की बात है यह। यदि बैल को खाने वाले भी देवता कहलाते थे तो राक्षस किसे कहते हैं ?

वृषभ का बैल अर्थ करके उस मन्त्र की संगति लग ही नहीं सकती जिसमें कहा गया है कि इस बैल के चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बंधा होकर यह वृषभ बार-बार शब्द कर रहा है।[१] संसार में कहीं भी ऐसा बैल नहीं मिलेगा। हाँ, शब्द ऐसा वृषभ है जिसके चार भेद हैं। जो तीनों कालों में वर्त्तमान है। नित्य तथा अनित्य के रूप में जो दो प्रकार का है। इसी शब्द रूपी बैल की सात विभक्तियाँ ही मानो इसके हाथ हैं।

(३) **यज्ञ**—यज्ञ शब्द तो अतिविस्तार को धारण किये हुए है। जहाँ एक ओर इसका अर्थ यज्ञकुण्ड में घृत तथा सामग्री से किया जाने वाला अग्निहोत्र है, वहीं दूसरी ओर संगतिकरण तथा दान आदि अर्थों में भी इसका प्रयोग होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुओं का संगतिकरण होकर सृष्टिरूपी यज्ञ हो रहा था जिसके लिए ऋग्वेद में 'यज्ञो बभूव स आ बभूव' कहा गया है। विद्याध्ययन-अध्यापन को भी यज्ञ कहा जाता है, क्योंकि इसमें विद्या का दान दिया जाता है। एतदतिरिक्त अतिथि सेवा, सन्ध्योपासना आदि को भी यज्ञ कहा जाता है। एक अध्यात्म यज्ञ भी है जिसमें उपासक अपने उपास्य परमेश्वर का संगतिकरण अपने हृदय में करता है। (ऋ० १०।९०।१५) में कहा गया है कि इस यज्ञ के सात परिधियाँ तथा २१ समिधाएँ थी। देवों ने यज्ञ का विस्तार करते हुए इसमें पुरुषपशु को बाँधा। यह पुरुषपशु परमेश्वर ही है, जिसे योगीजन ध्यान करते हुए अपने हृदय में स्थापित करते हैं। इस आध्यात्मिक रहस्य को न समझ कर यज्ञों में यूप गाड़कर कर्मकाण्डियों ने पशुओं तथा मनुष्यों को बाँधकर यज्ञ में उनकी बलि देना प्रारम्भ कर दिया। उनका यह कार्य घोर अज्ञान का सूचक था, जो यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ।

(४) **वृत्र**—इसी प्रकार का एक शब्द वृत्र है। मूलरूप में इसका अर्थ आवरणकर्त्ता, घेर लेने वाला है। आकाश को बादल घेर लेता है। इसीलिए निरुक्तकार बादल को ही वृत्र कहते हैं। इन्द्र इसका प्रबल शत्रु है। इन्द्र

१. चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ (ऋ० ४।५८।३)

सूर्य को कहते हैं। सूर्य तथा बादल का युद्ध ही इन्द्र–वृत्र युद्ध है। सूर्य अपनी तीक्ष्णकिरणों से बादल को नष्ट कर देता है। सूर्य की किरणें ही इन्द्र का वज्ररूपी आयुध हैं। एक वृत्र हमारा अज्ञान भी है, जो कि हमारे मन-बुद्धि को घेर लेता है। दुर्विचार भी ऐसा ही वृत्र है। इन्द्र अर्थात् जीवात्मा इस अज्ञान तथा दुर्विचार को नष्ट करता है। यह आध्यात्मिक इन्द्र-वृत्र युद्ध है, जो प्रत्येक मानव के मन में होता रहता है। आधिदैविक इन्द्र-वृत्र युद्ध आकाश में वर्षाकाल में होता है, जिसके उपरान्त वर्षा होती है। इस आध्यात्मिक तथा आधिदैविक रहस्य को न समझकर इन्द्र तथा वृत्र नामक असुर का लौकिक युद्ध समझ लिया गया। इससे वेदों का सत्य अर्थ तो तिरोहित हो गया केवल इन्द्र–वृत्र की कथा शेष रह गयी।

(६) **देवर**—वेद के शब्द लोक में किस प्रकार अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं, इसका एक उदाहरण देवर शब्द हैं। वेद में इसका अर्थ नारी के विधवा होने पर उसका द्वितीय पति है। इसीलिए यास्काचार्य ने देवर का अर्थ द्वितीय वर लिखा है, किन्तु लोक में सभी छोटे भाई अपने बड़े भाई की पत्नी के देवर कहलाते हैं। अर्थ में यह परिवर्तन इसलिए आया कि किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर सामान्यतः मृत व्यक्ति के छोटे भाई के साथ ही उस स्त्री का विवाह कर दिया जाता था। इसलिए छोटे भाई को देवर कहा जाता था। बाद में सभी छोटे भाई देवर कहलाने लगे।

वेदों में सुरापान की भ्रान्ति

यह आक्षेप भी किया जाता है कि वेदों में सुरापान का वर्णन है तथा आर्य लोग सुरापान किया करते थे। यह भ्रान्ति इसलिए हुई है कि वेदों में सोम तथा सुरा दो पद पठित हैं। इन दोनों शब्दों में एक ही 'सु' धातु है, जिसका अर्थ निचोड़ना है। सोमलता नामक लता को कूट-छान कर सोमरस निकाला जाता है, जिसके पान का वर्णन वेदों में पर्याप्त हुआ है। सोम के कई अर्थ हैं, उनमें से एक अर्थ सोमबल्ली से निकाला गया रस भी सोमरस कहलाता है। यह एक शक्ति तथा स्फूर्त्तिदायक पेय पदार्थ है। सोम के विषय में तो यहाँ तक कह दिया गया—अपाम सोमममृता अभूम (ऋ० ८।४८।३) अर्थात् हमने सोमपान कर लिया है, जिससे हम अमर हो गये। विचारणीय है कि सोमपान से अमर कैसे हुआ जा सकता है। अमृत का अर्थ मोक्ष करें, तो वह भी सोमपान के द्वारा सम्भव नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में अमृत का अर्थ दीर्घजीवन किया गया है।[1] इससे सिद्ध हुआ कि सोमपान से दीर्घजीवन प्राप्त होता था। आजकल यह लता उपलब्ध नहीं है। महर्षि दयानन्द ने गिलोय को ही सोमलता कहा है।

---

१. एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्त्वं यत् सर्वमायुरेति। (शत० ९।५।२।२०)

आयुर्वेद में भी ऐसा ही कहा गया है। यह बात इसलिए भी उचित प्रतीत होती है कि गिलोय का एक नाम 'अमृता' भी है। यह लता प्रायः सर्वत्र मिलती है। यह अन्वेषण का विषय है कि गिलोय से दीर्घजीवन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि वास्तविक सोमलता आज लुप्त ही हो गयी हो। यथा रामायण काल में मेघनाद द्वारा लक्ष्मण को शक्ति नामक शस्त्र से मूर्च्छित कर दिये जाने पर सुषेण वैद्य ने संजीवनी बूटी से उन्हें स्वस्थ किया था। आज वह संजीवनी बूटी प्राप्त नहीं होती। हाँ, संजीवनी नाम से अन्य एक बूटी मिलती है, जिसका तेल बनता है, जो संजीवनी तेल के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु भक्षणीय नहीं है।

निरुक्त में यास्काचार्य ने सोम को ओषधि कहा है।[१] शास्त्रों में रोगनाशक पदार्थ को ओषधि कहा जाता है—"ओषं दोषं धयति नाशयति इति ओषधिः" सोम में भी यह गुण है। ब्राह्मणग्रन्थों में सोम को ओषधियों का राजा कहा गया है।[२] सुश्रुत में सोम के अंशुमान्, स्वयंप्रभ, रजतप्रभ आदि २४ भेद माने गये हैं। कहा जाता है कि सोम के पत्ते रात्रि में चमकते हैं। यही भाव उक्त शब्दों का है। चरकसंहिता के चिकित्सा-स्थान प्रथम अध्याय में भी सोम का ओषधि रूप में वर्णन है। ऋ० ८।४८ के कई मन्त्रों में सोम की विशेषताएँ वर्णित हैं। यथा—सोम हृदय के लिए शान्तिप्रद है। यह हमारे लिए उसी प्रकार सुखप्रद है, जिस प्रकार पुत्र के लिए पिता।[३] इसी मन्त्र में तथा सप्तम मन्त्र में सोम को आयुवर्धक भी माना गया है।[४] ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल में सोम की निम्न विशेषता वर्णित हैं—(१) स्वादयुक्त, (२) माधुर्ययुक्त, (३) तीक्ष्ण, (४) रसवान्।

इस प्रकार यह निश्चित है कि वेदों में वर्णित सोम सुरा का वाचक नहीं है। संक्षेप में वेदों में सोम के निम्न गुण वर्णित हैं—

(१) हृदयरोगनाशक तथा हृदय के लिए सुखदायक।
(२) आयुवर्धक।
(३) रोगों तथा शारीरिक शिथिलता का नाशक।
(४) शरीर एवं सन्धिस्थलों को पुष्ट करने वाला।
(५) बुद्धिवर्धक तथा अपराध निरोधक।
(६) आन्तरिक, मानसिक आनन्द प्रदान करने वाला।
(७) पीने में मधुर तथा स्फूर्तिदाता।

१. ओषधिः सोमः सुनोतेः। (नि० ११।२)
२. सोमो वै राजौषधीनाम्। (तै० ३।९ कौ० ४।१२)
सोम ओषाधीनामधिराजः। (गो० ब्रा० १।१७)
३. शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः॥ (ऋ० ८।४८।४)
४. सोम राजन्प्रण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि। (ऋ० ८।४८।५)

सुरा अर्थात् शराब में उक्त गुण तो हैं ही नहीं, हाँ, अवगुण अनेक हैं। सुरा के द्वारा बुद्धि तथा शरीर दोनों का ही नाश होता है। कहा भी गया है—"बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारी तदुच्यते" अर्थात् मदकारी पदार्थ बुद्धि को नष्ट कर देते हैं। सुरा भी ऐसी ही है। वेद में सुरापान करने वाले को दुर्मद अर्थात् नशे से युक्त कहा गया है—"दुर्मदासो न सुरायाम्।" यहाँ उपमा अलंकार है। अर्थात् जैसे सुरापान करके व्यक्ति दुर्मद हो जाता है, यह अर्थ है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद (१०।३४) के अक्षसूक्त में सुरा की गणना पाप के प्रेरक तत्त्वों में की गयी है।[१] इस प्रकार वेद में सुरा अर्थात् शराब के दोषों का वर्णन करते हुए मद्यपान से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है।

विदेशी विद्वानों को वेदों में प्रतिपादित सोम को सुरा मानने का भ्रम किस कारण हुआ, इसका कारण है कि वेदों में अनेक स्थानों पर सोम का वर्णन सुरा रूप में भी किया गया है। ऐसे स्थलों को देखने से स्पष्ट होता है कि वहाँ पर सुरा के जो गुण वर्णित हैं, वे वस्तुतः सोम के ही गुण हैं, क्योंकि सुरा=शराब में वे गुण नहीं हो सकते। यथा—वेद में कहा गया है—'सुरा त्वमसि शुष्मिणी।'[२] हे सुरा! तू शुष्मिणी अर्थात् शक्तिशाली है। प्रत्यक्ष देखने में तो यही आता है कि शराब शक्तिदायिनी नहीं, अपितु शक्ति को नष्ट करने वाली है। यदि शराब शक्तिदायिनी होती, तो चिकित्सा शास्त्र तथा प्राचीन शास्त्रों में भी इसका ऐसा ही वर्णन होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं है। शास्त्रों में शराब के दोष दिखलाते हुए इसे न पीने का ही विधान किया गया है। इसके लिए मनुस्मृति परम प्रमाण है, जहाँ पर कहा गया है कि यदि द्विज ने सुरापान कर लिया हो तो प्रायश्चित स्वरूप उस शराबी व्यक्ति को अग्नि के समान तप्त शराब पीनी चाहिए, जिससे दग्ध होने पर वह सुरापान के पाप से मुक्त होगा।[३] ऐसी कठोर आज्ञा है मद्यप व्यक्ति के प्रति। जब स्मृतियों की यह बात है तो वेद में सुरापान का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता।

भ्रान्ति का कारण—यह सब भ्रम इसलिए हुआ कि वेदों में सोम को भी कई स्थानों में सुरा नाम से कहा गया है। दोनों शब्दों में एक ही धातु है। वेद के शब्दों का अर्थ लोक के आधार पर नहीं किया जा सकता, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। लोक में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द वेद में अन्य अर्थ के ही वाचक होते हैं। वेद में उस शब्द के ये दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं। यथा—लोक में घृत शब्द घी के अर्थ में सुप्रसिद्ध है,

१. न स स्वो दक्षो सुरा मन्युः विभीदकोऽचित्तिः। (ऋ०)
२. यजुर्वेद १९।७।
३. सुरां पीत्वा सम्मोहादग्निवर्णां सुरां पिवेत्।
ततः सकाये दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः॥

किन्तु वेद में यह द्व्यर्थक है। यथा—'सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।' यहाँ पर घृत पद घी का ही वाचक है, किन्तु ऋग्वेद में घृत पद जल के लिए भी आया है।[१] यास्काचार्य के निघण्टु में घृत शब्द जल के पयार्यवाची शब्दों में पठित है। इसी प्रकार एक मन्त्र का भाग है—'भ्रातृव्यस्य वधाय।' भ्रातृव्य लोक में भाई के पुत्र अर्थात् भतीजे का वाचक है, किन्तु वेद में यह शत्रु का वाचक भी है। भ्रातृव्य अर्थात् शत्रु के वध के लिए यह अर्थ हुआ तथा यही ठीक भी है।

सुरा भी इसी प्रकार का शब्द है। वेद में यह शराब के लिए भी प्रयुक्त है तथा सोमरस के लिए भी। हमें प्रकरणानुसार ही अर्थ करना होगा कि यह कहाँ तो शराब का वाचक है तथा कहाँ सोमरस का? इस प्रकार देखने से सर्वत्र ऐसा ही पायेंगे कि वेदों में शराब का निषेध ही किया गया है तथा न ही प्राचीन आर्य सुरापान करते थे।

क्या यज्ञों में सुरापान किया जाता था?

एक भ्रान्ति यह भी प्रचलित है कि प्राचीन काल में यज्ञों में सुरा का प्रयोग होता था तथा याज्ञिक लोग भी सुरापान करते थे। ऐसी भ्रान्ति का कारण ऐसे वेदमन्त्र तथा ब्राह्मणग्रन्थों के ऐसे वचन ही हैं, जिनके वास्तविक अर्थों को न समझकर उक्त आक्षेप लगाया गया। इस प्रसङ्ग में यह मन्त्र विचारणीय है—

सुरावन्तं बर्हिषदꣳसुवीरं यज्ञꣳहिन्वन्ति महिषा नमोभिः।

—यजु० १९।३२

यहाँ पर स्पष्टरूप में यज्ञ के लिए सुरावन्तम् शब्द आया है। ऊपर से देखने पर इसका यही अर्थ बनेगा कि सुरावाला यज्ञ। शतपथ के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ ही सुरावाला है।[२] इसी आधार पर 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' जैसी उक्तियाँ प्रकाश में आयीं, जिनका यही अर्थ है कि सौत्रामणी यज्ञ में सुरापान करें। यद्यपि शतपथ में यज्ञ को केवल 'सुरावान्' कहा गया है। वहाँ सुरापान जैसा कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह सब बाद की असंगत कल्पना है।

पुनरपि हमें वेद के इस शब्द पर तो विचार करना ही चाहिए कि यज्ञ सुरावाला कैसे है? उपर्युक्त मन्त्र में महिषाः पद भी पठित है। महिष का अर्थ भैंसा भी होता है तथा महान् भी। यहाँ मन्त्र में भैंसा अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि मन्त्रों की व्याख्या प्रकरणानुकूल ही करनी चाहिए।[३] यहाँ पर महिषा का अर्थ महान् ही उचित है। स्वामी दयानन्द ने यही अर्थ किया

१. व आवृतन्त् सदनाद् ऋतस्यादिद् घृतेन द्यावापृथिवी व्युद्यते। (ऋ० १।१६४।४७)
२. सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणी। (शत० १२।८।१।२)
३. प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। (नि० १३।१२)

है। महीधर ने 'महिषा महान्तः ऋत्विजः' लिखकर महान् ऋत्विज अर्थ किया है जो सर्वथा सुसङ्गत है। उव्वट ने भी 'महिषा ऋत्विजः' लिखा है। महिषा की तरह ही सुरा भी यहाँ अन्य अर्थ में ही प्रयुक्त है, शराब अर्थ में नहीं। स्वामी दयानन्द ने 'सुरावन्तम्' का अर्थ 'सोमरसयुक्तम्' किया है। यही अर्थ उचित है। अब मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जाता है कि जो यज्ञ सोमरस से, उत्तम वीरों से तथा कुशासन पर बैठने वाले विद्वानों (बर्हिषदों) से युक्त है, उसे महिषा अर्थात् महान् ऋत्विज बनाते हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि सौत्रामणी तो क्या किसी भी यज्ञ में सुरापान का विधान नहीं है।

सुरा का अन्य अर्थ—यजुर्वेद १९।१ में सुरा को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे सुरा! तू स्वादु, तीव्र, अमृत, मधुयुक्त है। तुझे स्वादु, तीव्र, अमृत तथा मधुयुक्त सोम के साथ संयुक्त करते हैं।[2] इसका मोटे तौर पर यही अर्थ किया जाता है कि सोमरस में शराब मिला कर यज्ञों में पान किया जाता है, जबकि यहाँ पीने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। यहाँ पर प्रयुक्त सुरा पद को शतपथकार स्पष्ट करते हैं कि जलों तथा ओषधियों का सार ही सुरावाच्य है।[3] अब अर्थ स्पष्ट हो गया कि अन्य ओषधियों के सारभूत रस को सोम के साथ मिलाते हैं। ओषधियों का यह रस तथा सोम दोनों ही स्वादु, माधुर्ययुक्त तथा अमृतत्व अर्थात् दीर्घजीवन प्रदान करने वाले हैं।

सुरा जलवाचक भी है—निघण्टु १।१२ में सुरा पद जलवाचक नामों में भी पठित है। कुछ मन्त्रों में सुरा का प्रयोग जल के अर्थ में ही किया गया है। यथा—

कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः।
—ऋ० १।११६।७

इस मन्त्र में कहा गया है कि अश्व के खुर=कारोतर से अश्विनौ ने सुरा के सौ घड़े सिंचित किये। क्या ही असंगत कल्पना है कि अश्व के खुर से सुरा के सौ घड़े भरे जाएँ। यह तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सायणाचार्य ने इस मन्त्र को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अश्व अर्थात् आकाश में व्याप्त मेघ के शफ अर्थात् निम्न प्रदेश से या स्रोत से अश्विनौ ने सुरा अर्थात् जल के सौ घड़े पूर्ण किये। मन्त्र में कारोतर पद भी पठित है जो शफात् का विशेषण है।[4] सायणाचार्य इसका अर्थ चालनी के समान

---

१. बर्हिषदं बर्हिषि सीदन्ति देवा यत्र स बर्हिषत् तम्। (महीधरभाष्य)
२. स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन।
मधुमतीं मधुमता सं सृजामि सं सोमेन॥ (यजु० १९।१)
३. अपां च वा एष ओषधीनां य रसो यत्सुरा। (शत० २।१।८।४)
४. अश्वस्य शफात् व्याप्तिमतो मेघस्य निम्नस्थानात् स्रोतसो वा। कारोतरात् चालनीस्वरूपात्। (ऋ० १।११६।७; सा० भा०)

स्वरूप वाला करते हैं। जिस प्रकार चालनी के छिद्रों से आटा छन-छन कर नीचे गिरता है, उसी प्रकार बादल से बूंदों के रूप में पानी नीचे गिर रहा है। अश्व शब्द 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से बना है। इसी आधार पर इसका अर्थ मेघ है।

क्या वेदों में अश्लीलता है?

कुछ लोग यह आक्षेप भी करते हैं कि वेदों में अश्लीलता भी है।

(१) इस विषय में वे ऐसे वेदमन्त्र भी उपस्थित करते हैं, जिनमें जननेन्द्रियों का वर्णन तथा पति-पत्नी की काम सम्बन्धी बातों का वर्णन है।

(२) इसके अतिरिक्त वेदों में पिता-पुत्री के समागम का भी उल्लेख है, ऐसा वे लोग कहते हैं।

(३) उव्वट तथा महीधर ने यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों के अश्लील अर्थ किये हैं। हम यहाँ पर इन सभी पक्षों पर विचार करेंगे।

(१) वेद में पिता-पुत्री का समागम—

(क) **पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।**

—ऋ० १०।६१।७

मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है कि पिता ने पृथिवी के साथ संगत होते हुए अपनी दुहिता में रेतस् का सेचन किया। इस मन्त्र के आधार पर कल्पना की गयी कि प्रजापति ब्रह्मा ने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसी ही कथा कल्पित की गयी है, जिसके आधार पर आलोचक जन वेदों पर उक्त आक्षेप लगाते हैं।

उक्त आक्षेप सर्वथा निराधार एवं काल्पनिक है। मन्त्र के शब्द भी इस विषय में साक्षी नहीं हैं। मन्त्र के पदों पर विचार करते हैं—मन्त्र में पिता पद पठित है, प्रजापति ब्रह्मा का तो यहाँ नामोनिशान भी नहीं है। पता नहीं, ब्रह्मा के साथ इसे कैसे सम्बद्ध कर दिया गया। मन्त्र में दूसरा पद दुहिता है, जिसका लोक में पुत्री अर्थ होता है, किन्तु वेद में सर्वत्र इसका अर्थ पुत्री नहीं है। दुहिता का मूल अर्थ है—जो दूर स्थित है-'दूरे हिता रक्षिता।' तीसरा पद रेतः है। इसका अर्थ वेद में जल होता है। निघण्टु में यह जलवाची नामों में ही पठित है। वीर्य भी इसका अर्थ होता है। इस प्रकार इन तीनों पदों के वास्तविक अर्थों पर विचार न करके भाष्यकारों ने पिता का अर्थ ब्रह्मा, दुहिता का अर्थ पुत्री करके ब्रह्मा पर स्वपुत्री गमन का दोष लगा दिया, जो सर्वथा मिथ्या है। मन्त्र में क्ष्मया पद भी है। क्षमा पृथिवी को कहते हैं। क्ष्मया में तृतीया विभक्ति है। इसका अर्थ है—पृथिवी के साथ संजग्मानः-संगत होता हुआ। यहाँ पर वर्षा के द्वारा सब का पालक होने के कारण बादल अथवा सूर्य ही पिता है तथा

पृथिवी उसकी दुहिता है, क्योंकि वह इससे बहुत दूर स्थित (दूरे हिता) है। दूसरा कारण यह है कि सृष्टिप्रक्रिया के अनुसार पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही होती है। अतः पृथिवी जल पूरित बादल की दुहिता=पुत्री है। यह बादल ही वृष्टि द्वारा अपनी दुहिता पृथिवी में रेतस्=जल का सिंचन करता है। इस तरह पानी के रूप में वह पिता बादल पृथिवी से संगत हो जाता है। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मन्त्र की यही व्याख्या की है। यास्काचार्य ने भी यही लिखा है कि पिता बादल अपनी दुहिता=पृथिवी में गर्भ का आधान करता है।[१] उसी गर्भ से वनस्पति ओषधि आदि की उत्पत्ति होती है। सायणाचार्य ने यहाँ पर पिता का अर्थ प्रजापति=सूर्य तथा दुहिता का अर्थ द्युलोक तथा उषा किया है। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा उषा में मानो गर्भ का आधान करता है। जिससे दिनरूपी पुत्र उत्पन्न होता है।

(ख) निम्न मन्त्र में भी पिता द्वारा दुहिता में गर्भाधान का वर्णन है। यहाँ मन्त्र में ही द्युलोक को पिता तथा पृथिवी को माता कह दिया गया है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥
—ऋ० १।१६४।३३

इस मन्त्र का भी वही भाव है, जो कि पूर्व मन्त्र का था। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मन्त्र की यह व्याख्या की है— "सूर्य प्रजापति संज्ञक है, उसकी दुहिता द्युलोक है। इस प्रकार यहाँ रूपकालङ्कार है। वह पिता सूर्य उषा में गर्भ का आधान करके प्रकाशरूपी पुत्र को उत्पन्न करता है।"

(ग) **मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।**
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥
—ऋ० १०।६१।६

सायणाचार्य ने इस मन्त्र की यह व्याख्या की है कि दुहिता उषा में पिता के द्वारा यथेच्छ गर्भाधान रूपी कर्म करते हुए अन्तरिक्ष में जो मिथुनी भाव कर्म हुआ, तब परस्पर संगत होते हुए रेतस्=तेज को छोड़ा। अभिप्राय यही है कि पिता सूर्य ने अपनी दुहिता उषा में प्रकाश रूपी गर्भ का आधान किया। सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषा सूर्य की दुहिता=पुत्री है।

(घ) **पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥**
—ऋ० ३।३१।१

इस मन्त्र का भी वही भाव है जो उपर्युक्त मन्त्रों का है।

१. पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः। (नि० ४।२१)

इस प्रकार वेदों में कहीं भी लौकिक पिता-पुत्री के समान समागम का वर्णन नहीं है। वेद में जहाँ भी ऐसा वर्णन है, वहाँ सूर्य अथवा बादल ही पिता है। पृथिवी बादल की दुहिता है तथा उषा सूर्य की दुहिता है। इन शब्दों के वास्तविक अर्थों को न समझ कर वेद में पिता-पुत्री के समागम का दोष मढ दिया गया। ऐसे सभी स्थानों पर रूपकालंकार के द्वारा विषय वर्णित रहता है।

जार—वेद के जार शब्द को समझने में भी बड़ी भूल हुई है। लोक में जार का ही अपभ्रंश यार शब्द प्रयुक्त होता है। यदि किसी स्त्री का कोई यार हो, तो वह अनैतिक अर्थ को सूचित करता है। वेद में जार पद को देख कर आक्षेप किया गया कि ब्रह्मा जी ने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया था। मन्त्र में तो ब्रह्मा का नाम भी नहीं है। वहाँ पर पिता के द्वारा दुहिता के साथ जार-कर्म का वर्णन है। यहाँ पर सूर्य ही पिता है तथा उषा दुहिता है। सूर्य ही अपनी किरणों से उषाकाल को नष्ट करता है। वेद में जार का अर्थ जीर्ण करने, वाला नष्ट करने वाला है, न कि व्यभिचार करने वाला। उषा सूर्य की दुहिता है। दुहिता का अर्थ पुत्री नहीं, अपितु दूरे हिता=दूर स्थित है। यह उषा सूर्य से बहुत दूर है। इस रहस्य को न समझ कर वेदों पर पिता-पुत्री के व्यभिचार का दोष मढ दिया गया। यह सब वेद के शब्दों के सत्य अर्थ को न जानने के कारण हुआ।

(२) जननेन्द्रियों का वर्णन—

वेदों में अनेक मन्त्रों में ऐसा वर्णन पाया जाता है, यह सत्य ही है। ऐसे प्रसङ्गों के कारण भी वेदों पर अश्लीलता का दोष मढा जाता है। ऐसे प्रसङ्गों पर विचार करने से पूर्व हम अश्लीलता के सम्बन्ध में ही सर्वप्रथम विचार करेंगे। क्या अश्लील है तथा क्या नहीं, इसकी कोई निश्चित परिभाषा या नियामक रेखा नहीं है। एक समय एक ही कार्य अश्लील कहा जा सकता है, तो दूसरे समय एवं प्रसङ्ग में उस कार्य को अश्लील नहीं कहते हैं। उदाहरणार्थ—(१) माता बाल्यावस्था में अपने पुत्र-पुत्रियों के गोपनीय तथा अगोपनीय सभी अंगों का स्पर्श करती है। उनका मल-मूत्र साफ करती है, बच्चों को अपने पास सुलाती भी है तथापि इन कार्यों को कोई भी अश्लील नहीं कहता। अपने माता-पिता के वृद्ध तथा अशक्त होने पर उनके बड़े पुत्र-पुत्रियाँ भी उनकी सेवा उसी रूप में करते हैं, जिस प्रकार बाल्यकाल में उनकी की गयी थी। यहाँ कोई अश्लीलता का दोष नहीं लगाता, किन्तु वे ही माता-पिता अपने वयस्क बच्चों के साथ वैसा व्यवहार करने लगें, तो इसे सहन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अश्लील है।

(२) डॉक्टर एक रोगी की शल्य-चिकित्सा करता है। उसके सामने कोई ऐसा भी रोगी, चाहे वह युवक हो या युवति लाया जाए, जिसके प्रजजन-अंगों की शल्य चिकित्सा करनी है, तो डॉक्टर तथा रोगी दोनों को ही इसमें हिचकिचाहट नहीं होती, क्योंकि यह चिकित्सा कार्य है। चिकित्सक नग्न रोगी की भी चिकित्सा करता है, क्योंकि उसके सामने एक रोगी शरीर है। वह उसे स्त्री या पुरुष के रूप में न देख कर शरीर (Body) के रूप में ही देखता है। इस कार्य को अश्लील नहीं, अपितु धर्म कहा जाता है। स्वस्थ होने पर वही चिकित्सक उन रोगियों के गुप्त अंगों का स्पर्श तो दूर, उनका नाम भी नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो अश्लीलता मानी जायेगी। हाँ, रोग को जानने के लिए गोपनीय अंगों के विषय में भी कुछ पूछता है, तो इस पर आपत्ति नहीं होती।

(३) आयुर्वेद के ग्रन्थों में शरीर के प्रत्येक अंगों के नाम तथा रोगों का वर्णन है। वहाँ पर इनकी चिकित्सा भी बतलायी गयी है। इन अंगों में स्त्री तथा पुरुषों के गोपनीय अंग भी सम्मिलित हैं। आयुर्वेद के शास्त्र नाम ले-लेकर इनका वर्णन करते हैं, किन्तु किसी को भी यहाँ अश्लीलता प्रतीत नहीं होती। पुरुष की नपुंसकता जो कि उसके इन्द्रियविकार के कारण है, उसकी चिकित्सा भी इन ग्रन्थों में वर्णित है। यही कार्य यदि वेदों में मन्त्रों द्वारा बतलाया जाता है, तो वहाँ अश्लीलता कैसे दीखने लगती है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि वेद ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति आदि सब कुछ विद्यमान है। इसलिए यदि वहाँ पर स्त्री तथा पुरुष के अन्य अंगों के समान उनकी जननेन्द्रियों का नाम, उनके रोग तथा उनकी चिकित्सा विद्यमान है, तो वहाँ हमें अश्लीलता क्यों प्रतीत होने लगती है ? वेद सर्वहितकारी एवं सर्वमङ्गल का ग्रन्थ है। उसे अच्छाई-बुराई सभी का वर्णन करना है, तभी तो व्यक्ति बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयों को ग्रहण करेंगे। वहाँ अश्लीलता तथा शालीनता का कोई प्रश्न ही नहीं है। धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष ये चार ही मनुष्य के पुरुषार्थ हैं। इन चारों से सम्बन्धित कार्यों का वर्णन वहाँ किया ही जायेगा। स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तानोत्पत्ति होती है। यही संसार का मूल है। यदि इसका वर्णन वेदों में है, तो इसे अश्लील कैसे माना जा सकता है। वेद भी उसी माँ की तरह है, जिसके सामने उसके छोटे बच्चों के सर्वथा नग्न होने पर किसी प्रकार की अश्लीलता वहाँ नहीं मानी जाती। वेद में स्वयं कहा गया है—स्तुता मया वरदा वेदमाता। इस वेदमाता के सामने कैसा अश्लीलत्व। स्त्री-पुरुषों की कामसम्बन्धी बातों, उनके गुप्त अंगों, उनके रोगों तथा चिकित्सा का वर्णन यदि वेदमाता करती है, तो उसमें कैसी अश्लीलता। इस प्रकार हमने देखा कि वेद की दृष्टि में कुछ भी अश्लील नहीं है। वेद लोकमंगल के लिए है,

इसलिए वह सभी का वर्णन करेगा चाहे, हमारी दृष्टि में वह अश्लील हो या अन्य कुछ हो।

नारी का एक विशेष गुण जो इसे पुरुष से पृथक् करता है, सन्तानोत्पत्ति है। यदि कोई नारी सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकती, तो उसे वन्ध्या कहा जाता है। इसी प्रकार पुरुष का विशेष गुण नारी में गर्भाधान करना है। यदि कोई पुरुष इस कार्य में असमर्थ है, तो उसे नपुंसक कहा जाता है। नपुंसकत्व तथा वन्ध्यत्व ये दोनों ही रोग हैं तथा इनकी चिकित्सा का विधान वेदों में है। यदि वेदों में स्त्री-पुरुषों के इन दोषों से ग्रस्त इन्द्रियों का नाम लेकर चिकित्सा का विधान किया गया है, तो उसे अश्लील कैसे कहा जा सकता है। वैद्य भी तो प्रत्येक अंग को तथा उनके रोगों के नाम लेकर रोगी से पूछता है। वेदों में कहीं-कहीं ऐसा वर्णन आलङ्कारिक रूप से भी किया गया है। यथा—

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।

—अथर्व० ४।४।७

यहाँ पर कहा गया है कि जिस प्रकार धनुष पर डोरी चढ़ाई जाती है, उसी प्रकार मैं तुम्हारी जननेन्द्रिय को सशक्त तथा कठोर करता हूँ जिससे तुम स्त्री के साथ समागम करने में समर्थ हो सको। पता नहीं कितने पुरुष अपने नपुंसकत्व की तथा कितनी स्त्रियाँ अपने बन्ध्यत्व की चिकित्सा कराने वैद्यों तथा डाक्टरों के पास जाते हैं। वे उनकी सभी गोपनीय बातों को पूछकर उनकी चिकित्सा करते हैं। समाचारों-पत्रों में इस सम्बन्ध में विज्ञापन भी देखे जा सकते हैं। जब लोक में इन कार्यों को अश्लील नहीं कहा जाता तो, वेद को अश्लीलता का प्रतिपादक क्यों कहा जाता है? इसका इतना ही अभिप्राय है कि तेरी जननेन्द्रिय भी सशक्त तथा अपना कार्य करने में समर्थ हो जाए। ऐसा कहने में कैसी अश्लीलता? एक अन्य मन्त्र देखिए—

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥

—अथर्व० ६।१३८।५

मन्त्र में कहा गया है कि स्त्रियाँ जिस प्रकार नड नामक घास को पत्थर से कुचलती हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे अंडकोषों को कुचलता हूँ। इस मन्त्र को भी अश्लीलता के प्रमाण रूप में उद्धृत किया जाता है। समझ में नहीं आता कि इस मन्त्र में अश्लीलता कैसे दिखलाई दे गयी। यहाँ पर व्यभिचारी व्यक्ति के दण्ड का विधान किया गया है। आज अनेक दुराचारी पुरुष अबला कन्याओं तथा स्त्रियों का अपहरण करके उनका शीलभङ्ग कर देते हैं। इनमें से कुछ तो लज्जावश आत्महत्या तक कर लेती हैं। जो आत्महत्या नहीं करतीं, उन्हें भी समाज अच्छी दृष्टि से नहीं

देखता। अतः उन्हें अपमान का घूंट पीकर घुट-घुट कर दुःखी रहना पड़ता है। यदि व्यभिचारी व्यक्ति के अंडकोषों को कुचलकर उसे नपुंसक बना दिया जाए, तो वह व्यक्ति तो पुनः ऐसा दुष्कर्म करेगा ही नहीं, इससे अन्य दुराचारियों में भी भय व्याप्त हो जायेगा, जिससे बलात्कार की घटनाओं पर न केवल काबू ही पाया जा सकता है, अपितु इन्हें सर्वथा समाप्त भी किया जा सकता है। वर्त्तमान न्याय-व्यवस्था के अनुसार किसी भी व्यभिचारी व्यक्ति को नहीं सुधारा जा सकता, क्योंकि इनमें से अनेक तो साक्षी के अभाव में न्यायालय द्वारा छोड़ दिये जाते हैं। कुछ को ही थोड़ा-बहुत दण्ड मिल पाता है। पाप को मिटाने के लिए कठोर दण्ड होना ही चाहिए। यदि इस मन्त्र में उसका उल्लेख कर दिया गया, तो इसमें अश्लीलता कहाँ से आ गयी?

इस मन्त्र को अन्य सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। पशुपालक किसान आदि कृषि कार्य के लिए बैलों तथा भैंसे को बधिया बनाते हैं। इसमें यही कार्य किया जाता है कि बैल तथा भैंसे को पृथिवी पर गिरा कर उसके अण्डकोषों को पत्थर से कुचल दिया जाता है। यह कार्य सभी के सामने सर्वथा किया जाता है, पुनरपि इसे अश्लील नहीं माना जाता। यदि मन्त्र में इसका प्रतिपादन कर दिया गया, तो यहाँ अश्लीलता कैसे आ गयी। जनसंख्या रोकने के लिए सरकार की ओर से पुरुषों की नसबन्दी की गयी है, जिससे कि वे सन्तानोत्पत्ति के योग्य न रहें। इस कार्य को कोई भी अश्लील नहीं कहता।

इस मन्त्र में व्यभिचारी व्यक्ति को दण्डस्वरूप नपुंसक बनाने के उपाय का उल्लेख किया गया है, उसे हम भारतीय भले ही अश्लील मानें, किन्तु विदेशों में ऐसी सजा सुनायी गयी है। इसका प्रभाव यह है कि ब्रिटेन के प्रसिद्ध गणितज्ञ एलन ट्यूरिंग को ब्रिटन के कानून ने १९५२ में अश्लीलता का दोषी मान कर उन्हें दवाई देकर नपुसंक बनाने का दण्ड सुनाया था, क्योंकि एलन समलैंगिक था तथा उस समय ब्रिटेन में समलैंगिकता अपराध माना जाता था। मनुस्मृति में व्यभिचारी पुरुष तथा स्त्री को लोहे के पलंग को अग्नि में तपा कर उस पर सुलाने का विधान है। दुष्ट पुरुष कठोर दण्ड से ही वश में आ सकते हैं।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र इस सन्दर्भ में इस प्रकार है—

सर॑स्वती योन्यां गर्भ॑मन्तर॒श्विभ्यां पत्नी सुकृ॑तं बिभर्ति।

—यजु० १९।९४

अर्थात् अश्विनौ के द्वारा सरस्वती योनि में गर्भ को धारण करती है। इसे भी अश्लील माना जाता है। वस्तुतः यहाँ पर स्त्री के बन्धत्व की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद के ही १९।८२ मन्त्र में अश्विनौ को भिषजा कहा गया है। अश्विनौ अनेक कार्यों के करने वाले

हैं। ये अनेक रोगों की चिकित्सा भी करते हैं। इस मन्त्र में उन्हें स्त्री के बाँझपन की चिकित्सा के लिए कहा गया है जिससे कि वह स्त्री गर्भ-धारण के योग्य हो जाए। यह तो अति आवश्यक तपा पवित्र कार्य है। आजकल बहुत से वैद्य तथा डॉक्टर बन्ध्यत्व की चिकित्सा करते हैं। यदि वहाँ पर अश्लीलता नहीं है, तो वेद में इसका वर्णन होने से अश्लील कैसे माना जा सकता है ?

कुछ लोगों का वेदों में अश्लीलता के प्रतिपादन का आग्रह इतना तीव्र है कि वे कहीं भी वेदों में अश्लीलता थोप देते हैं। इस सम्बन्ध में एक मन्त्रांश इस प्रकार है—

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा।

—ऋ० १०।७१

इसका शाब्दिक अर्थ है कि विद्वान् व्यक्ति के सामने वाणी अपने स्वरूप को इसी प्रकार प्रकट कर देती है, जिस प्रकार अपने पति के लिए पत्नी अपने शरीर को निरावृत्त तथा शिथिल कर देती है। इसी प्रकार ऋ० १०।१०।७ में यमी के मुख से कहलाया गया है—जायेव पत्ये तन्वे रिरिच्याम्। अर्थात् जैसे पत्नी पति के लिए अपने शरीर को खोल देती है, वैसे ही मैं भी करूँ। इन मन्त्रों में वर्णित कार्य एक स्वाभाविक क्रिया है। पति-पत्नी के मध्य ऐसा ही होना चाहिए, तभी दाम्पत्य एवं सन्तानसुख प्राप्त होगा। यदि वेद ने इसे ही शब्दों में कह दिया, तो इसमें अश्लीलता की गन्ध कैसे आने लगती है।

(४) संवादसूक्त तथा अश्लीलता

वेदों में कुछ संवाद सूक्त भी ऐसे विद्यमान हैं, जिन पर अश्लीलता का दोष लगाया जाता है। यह गलत धारणा है। यहाँ हम एक-दो सूक्तों की परीक्षा करते हैं—

(क) **यम-यमी सूक्त**—ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त यम-यमी सूक्त कहलाता है। इसमें यमी नामक कन्या अपने भाई से प्रणय निवेदन करके विवाह का प्रस्ताव रखती है। वह अपने पक्ष में कई तर्क भी देती है, किन्तु उसका भाई यम उसके सभी तर्कों का उत्तर देकर बहिन के साथ विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। वह स्पष्टरूप में घोषणा कर देता है—'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्'। अर्थात् बहिन के साथ विवाह करना या शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना पाप है।

कुछ व्यक्ति यहाँ भी वेदों में अश्लीलता का आरोपण करके कहते हैं कि वेद में भाई-बहिन के विवाह का प्रतिपादन किया गया है। उनका यह कथन सर्वथा असत्य है, क्योंकि यम तथा यमी ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं, जिनका उल्लेख वेद में किया गया हो। ये दोनों कल्पित पात्र हैं तथा

इनके माध्यम से भाई-बहिन के विवाह को निषिद्ध ठहराया गया है। आजकल ऐसे अनेक प्रसङ्ग सुनने में आ जाते हैं, जहाँ भाई-बहिन प्रणय प्रसङ्ग में बन्ध जाते हैं। मुसलमानों में तो मामा-फूफी की लड़की से विवाह कर भी लेते हैं। ऐसे सभी प्रकार के सम्बन्धों को रोकने के लिए यह सूक्त है। इसमें अश्लीलता कैसी? यह तो समाज के लिए पथ-प्रदर्शक सूक्त है।

(ख) **अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद**—ऋग्वेद के मण्डल १, सूक्त १७९ में यह संवाद वर्णित है। इसमें अगस्त्य तथा उसकी पत्नी लोपामुद्रा का कामविषयक संवाद वर्णित है। अगस्त्य तथा लोपामुद्रा युवावस्था में तपस्या करते रहे, किन्तु वृद्धावस्था में उनके मन में कामभाव जाग्रत होता है, तो लोपामुद्रा अपने पति के साथ आलिङ्गनबद्ध हो जाती है। इस प्रसङ्ग में प्रसिद्ध मन्त्र यह है—

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥

—ऋ० १।१७९।४

लोपामुद्रा कह रही है कि ब्रह्मचारी अगस्त्य के प्रति मेरे मन में कामभाव का उदय हुआ है। इस प्रकार लोपामुद्रा युवावस्था को पार करके भी अपने पति अगस्त्य के साथ आलिङ्गनबद्ध हो जाती है।

बस, इतने से वर्णन से इस मन्त्र को अश्लील माना जाने लगा। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है। यहाँ पर चर्चित अगस्त्य एवं लोपामुद्रा दोनों ही पात्र कल्पित हैं। इनके माध्यम से यह दिखलाया गया है कि दाम्पत्य जीवन सन्तानोत्पत्ति के लिए है। अतः युवावस्था में हठपूर्वक इन्द्रियनिग्रह न करके पति-पत्नी को दाम्पत्यसुख का उपभोग करना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था में कभी भी कामभाव का उदय हो सकता है। उस समय कामभाव के कारण सहवास करना अपराध है, जब कि युवावस्था में सन्तानोत्पत्ति के लिए पति-पत्नी का परस्पर संयुक्त होना स्वाभाविक, प्राकृतिक एवं आवश्यक है।

इसी प्रकार का एक सूक्त में ऋग्वेद है जिसमें पुरूरवा तथा उर्वशी का संवाद वर्णित है। इसे भी उर्वशी तथा पुरूरवा राजा का प्रेमालाप कहकर अश्लील माना जाता है, जब कि ऐसा नहीं है। यह सूक्त राजनीतिपरक है। पुरूरवा तथा उर्वशी दोनों पात्र कल्पित हैं। इनके माध्यम से राजनीति का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्य संवाद सूक्त भी हैं।

(५) **वेदभाष्यकारों के भाष्य**—वेदों पर अश्लीलता के दोषारोपण का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उव्वट तथा महीधर आदि वेद-भाष्यकारों ने अनेक मन्त्रों के ऐसे अश्लील अर्थ किये हैं कि जिनकी

कल्पना भी वेद जैसे ग्रन्थ में नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के निम्न मन्त्र को उद्धृत किया जा सकता है—

यकोऽसकौ शकुन्तकऽआहलगिति वञ्चति।
विवक्षतऽइव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभि भाषथाः॥

—यजु० २३।२३

इस मन्त्र, इससे पूर्ववर्त्ती बाईसवें तथा इससे अगले २४वें मन्त्रों का महीधर ने जो अश्लील अर्थ किया है, उसे यहाँ लिखते हुए लज्जा आती है, किन्तु यह महीधर का कपोल कल्पित अर्थ है। ऐसे अर्थों के कारण ही वेदों को आक्षेप का भाजन बनना पड़ा है। इन मन्त्रों का शुद्ध अर्थ महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार लिखा है—

(अध्वर्यो) हे यज्ञ के समान आचरण करने वाले राजन्! (त्वम्) तू (नः) हम लोगों के प्रति (मा अभिभाषथाः) झूठ मत बोल। (विवक्षत इव) बहुत बकते हुए मनुष्य के समान (ते मुखम्) तेरा मुख न हो। यदि इस प्रकार (यकः) जो (असकौ) यह राजा गप्प-सप्प करेगा तो (शकुन्तकः) निर्बल पखेरु के समान (आहलक्) भली-भाँति उच्छिन्न होगा तथा (वञ्चति) ठगा जायेगा। (यजु० २३।२३)

स्वामीजी ने अन्य दो मन्त्रों के अर्थ भी इसी प्रकार दिखलाये हैं जबकि महीधर ने इन तीनों ही मन्त्रों का अति अश्लील तथा मिथ्या अर्थ किया है, जिस कारण वेदमन्त्रों पर अश्लीलता का आरोप लगा है। वेद मन्त्रों में उच्च कोटि के भाव निहित हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने अज्ञान या दुराग्रहवश उन अर्थों को न जानकर वेदों पर मिथ्या आक्षेप करता है, तो उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।' अर्थात् यह खम्भे का दोष नहीं है कि अन्धा व्यक्ति उसे देख नहीं सकता। इस प्रकार वेदों में कहीं भी किसी भी प्रकार की अश्लीलता नहीं है।

प्रजापति का स्वदुहितृगमन

निम्न मन्त्र के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि प्रजापति ने अपनी कन्या के साथ सहवास किया था तथा वेद में इसका वर्णन है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

—ऋ० १०।६१।७

मन्त्र में पठित पिता, दुहिता, रेतः आदि शब्दों के आधार पर उक्त कुत्सित कल्पना की जाती है कि वेदों में ब्रह्मा के अपनी कन्या के साथ व्यभिचार का उल्लेख है। यह सर्वथा ही मिथ्या कल्पना है। मन्त्र में पिता

पद पठित है, ब्रह्मा नहीं। मन्त्र में पठित पिता, दुहिता तथा रेतः आदि पदों के अर्थ लोक-प्रचलित अर्थों की भाँति किये गये हैं, इसी कारण इस प्रकार के आक्षेप प्राप्त होते हैं। वेद तो नैतिक शिक्षाओं का जनक तथा भण्डार हैं, वेद में इस प्रकार की अनैतिक शिक्षा हो ही नहीं सकती। इस मन्त्र के वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

(१) सायणाचार्य ने पिता का अर्थ प्रजापति तथा दुहिता का अर्थ उषा तथा दिन किया है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य को प्रजापति कहा गया है। सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषा सूर्य की दुहिता=पुत्री है। इस पक्ष में मन्त्र का अर्थ होगा कि प्रजापति सूर्य उपनी दुहिता अर्थात् उषा में किरणों के रूप में गर्भ का आधान करता है जिससे दिनरूपी पुत्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ रूपकालंकार है।

(२) यास्काचार्य ने दुहिता का अर्थ 'दूरे हिता' किया है अर्थात् जो दूर रखी गयी है। इस पक्ष में पृथिवी ही दुहिता है तथा द्युलोकस्थ सूर्य उसका पिता है। सूर्य ही पृथिवी में अपनी किरणों का आधान करता है तभी उष्णता प्राप्त करके वृक्षों, वनस्पति तथा अन्यों के बीज अंकुरित होते हैं। गरमी बिना बीज नहीं जमता।

(३) स्वामी दयानन्द ने बादल को पृथिवी का पिता माना है, क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही हुयी है। जैसा कि सूत्र है—अद्भ्यः पृथिवी। बादलों में जल ही भरा होता है। इसलिए बादल पृथिवी के पितृतुल्य है। बादल ही वर्षा द्वारा सबका पालन-पोषण करता है। इस कारण भी वह पिता है।[1] इसी प्रसंग में एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

—ऋ० १।१६४।३३

यहाँ पूर्ववत् वही आक्षेप किया जाता है कि प्रजापति ब्रह्मा ने अपनी दुहिता में गर्भ का आधान किया। किन्तु यहाँ तो मन्त्र में ही स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि द्युलोक ही पिता है तथा पृथिवी माता है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या इस रूप में की है कि सूर्यलोक ही प्रजापति संज्ञक है। इसकी दुहिता=कन्या द्यौ अर्थात् द्युलोक है। यह पिता=सूर्यलोक प्रकाशमान् आदित्य को जन्म देता है। इस आदित्य की माता उषा है, क्योंकि उषाकाल के पश्चात् ही सूर्य का जन्म होता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में आधिदैविक वर्णन सुस्पष्ट है, किन्तु वैदिक शब्दों के अर्थों को भली-भाँति न समझ कर यहाँ तथा इसी प्रकार के

१. एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितृदुहितृवत्। कुतः ? पर्जन्याद् अद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः। अतः पृथिवी दुहितृवदस्ति।

अन्य स्थलों में अश्लीलता की कल्पना करली जाती है। यह कल्पना सर्वथा मिथ्या एवं वेद के आशय के प्रतिकूल है। पिता का अर्थ पालन करने वाला होता है। लौकिक पिता को भी इसी कारण पिता कहा जाता है।

(१) क्या वेदों में पुत्र की ही कामना है, कन्या की नहीं ?

कुछ लोगों का आक्षेप है कि वेदों में सर्वत्र पुत्र की ही कामना की गयी है, पुत्रियों की नहीं। इस आक्षेप को लगाने वाले व्याकरण के नियमों को ध्यान में नहीं रखते हैं। वेदों में जहाँ पुत्रों का उल्लेख है, वहाँ पुत्र शब्द में पुत्री भी समाहित है। यहाँ द्वन्द्व समास है। द्वन्द्व समास के पाणिनीय नियम कुछ इस प्रकार हैं—(१) पितामातरा (पा० १।२।७०) माता च पिता च=पितरौ। यहाँ माता-पिता का समास होकर पिता ही शेष रहा। सभी जानते हैं कि 'पितरौ' का अर्थ माता-पिता दोनों ही है। (२) श्वशुरः श्वश्रवा (पा० १।२।७१) श्वश्रू=सास के साथ समास होने में श्वशुर शब्द ही शेष रहेगा—श्वशुरश्च श्वश्रूश्च=श्वशुरौ। इसी प्रकार पुमान् स्त्रिया (पा० १।२।६७) स्त्रीवाची शब्द का पुल्लिंगवाची शब्द के साथ समास होने पर पुल्लिङ्गवाची ही शेष रहेगा। यथा—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च=ब्राह्मणौ। इसी प्रकार पुत्रश्च पुत्री च=पुत्रौ। जिस प्रकार यहाँ पुत्रौ शब्द पुल्लिङ्ग का होते हुए भी पुत्र तथा पुत्री दोनों का वाचक है, उसी प्रकार वेद में प्राप्त पुत्र शब्द सर्वत्र पुत्री का भी संग्राहक है। इसलिए पुत्र की कामना में पुत्री की कामना भी अन्तर्निहित है।

लोक में भी उक्त नियम देखा जाता है। यथा—कहीं लड़के तथा लड़कियाँ मिलकर खेल रहे हों या पढ़ रहे हों तो यही कहा जाता है—बच्चे खेल रहे हैं। बच्चे पद पुल्लिंग बहुवचन का है, किन्तु इसने बच्चियों को भी अपने अन्दर ले लिया है। इसी प्रकार दम्पती से यही पूछा जाता है कि आपके कितने बच्चे हैं ? इस प्रश्न में पुत्र तथा पुत्रियाँ दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में तो स्पष्ट रूप में ही कहा गया है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' (अथर्व० ११।५।१८) ऋग्वैदिक नारी यह भी कहती है 'अथो मे दुहिता विराट्' (ऋ० १।१५९।३) यदि पुत्रियों की कामना ही नहीं है, तो उनकी प्रशंसा यहाँ कैसे की जा रही है।

इसमें अन्य हेतु यह है कि वेदों में सर्वाधिक प्रार्थनाएँ प्रजा की कामना के साथ की गयी हैं। यथा—प्रजां पशून् कीर्त्तिं यजमानञ्च वर्धय (यजु०), प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः (ऋ० २।३३।१), आप्यममाना प्रजया धनेन (ऋ० १०।१८।२) इत्यादि। यहाँ सर्वत्र प्रजा शब्द से पुत्र-पुत्री दोनों का ही ग्रहण है। ऋ० ८।३१।८ में स्पष्टरूप में कहा गया है—

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। यजुर्वेद की राष्ट्रीय प्रार्थना 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो' (यजु०) में जहाँ सभेय युवा की कामना के साथ-साथ 'पुरन्धिर्योषा' नारी का महत्त्वपूर्ण विशेषण पुरन्धि दिया गया है। अतः यह कथन सर्वथा निर्मूल है कि वेदों में पुत्रों की ही कामना की गयी है।

(१) **स्त्रीविषयक अन्य आक्षेप**—ऋ० ८।३३।१७ में कहा गया है—स्त्रिया अशास्यं मनः। इसका स्त्री की निन्दापरक यह अर्थ किया जाता है कि स्त्री के मन पर शासन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनकी बुद्धि तुच्छ होती है। सायण ने भी यही अर्थ किया है। यह ठीक अर्थ नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है कि स्त्री का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। पुरुष को उसे अपने अधिकार में रख कर उसकी बुद्धि तथा मन को कुण्ठित नहीं कर देना चाहिए। वह भी स्वयं विचार करने वाली है। भारत में पुरुषप्रधान घरों में प्रायः स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं। वेद ऐसा नहीं कहता।

(२) **बहुपत्नी प्रथा**—कुछ विद्वानों का विचार है कि वैदिककाल में बहुपत्नीप्रथा प्रचलित थी। इसके लिए अथर्व० ३१।१८।१ मन्त्र को उपस्थित किया जाता है। इस मन्त्र में एक ओषधि खोदने का वर्णन करते हुए मन्त्र में कहा गया है—'यया सपत्नीं बाधते यया संविदते पतिम्।' इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि इस ओषधि के द्वारा स्त्री अपनी सपत्नी को नष्ट करती है। यह अशुद्ध अर्थ है। यहाँ ओषध तथा रोगों का प्रकरण है। यह कथन एक बन्ध्या स्त्री के लिए है। सन्तानहीनता की अवस्था में उसका पति सन्तान लाभार्थ दूसरा विवाह कर सकता है। इसलिए यह ओषधि बतलायी गयी है कि यह ओषधि सभी ओषधियों में बलवत्तमा है तथा स्त्री के बन्धत्व दोष को दूर कर देती है, जिससे उसके पति को दूसरे विवाह की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार वह स्त्री सपत्नी से बची रहेगी।

वेद तथा सतीप्रथा

मध्यकाल में भारतवर्ष में सती प्रथा का प्रचलन था। पश्चिम बंगाल में तो यह भयंकर रूप में छायी हुई थी। इसका अर्थ था कि पति के मरने पर उसकी पत्नी को भी जीवित ही अग्नि की चिता में जलना पड़ता था। यदि कोई स्त्री ऐसा न करना चाहे, तो लोग जबरदस्ती उसे जीवित ही अग्नि की चिता में जला देते थे तथा चिता के चारों ओर डण्डे लेकर खड़े हो जाते थे कि वह स्त्री चिता से निकल कर भाग न ले। सोलहवीं शती में इस प्रथा का बहुत जोर था। ऐसा इसलिए किया जाता था कि लोगों में यह अन्धविश्वास था कि इस प्रकार सती होने से स्त्री पतिलोक को ही प्राप्त करती है।

राजा राममोहन राय भी बंगाली थे। ऐसे दारुण दृश्यों को देखकर उनका हृदय चीत्कार कर उठा। उन्होंने इसके विरोध में बंगाल के उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर करके सतीप्रथा पर प्रतिबन्ध की माँग की। उस समय विलियम वैरिक पश्चिम बंगाल के गवर्नर थे। पौराणिक पण्डितों मे इस याचिका का घोर विरोध हुआ तथा उन्होंने सतीप्रथा के पक्ष में वेद का निम्न मन्त्र प्रस्तुत किया—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

—ऋ० १०।१८।७ तथा अथर्व० १८।३।५७

यहाँ स्पष्टरूप में कहा गया है कि सुगन्धित पदार्थों तथा आभूषणों आदि से सुसज्जित ये नारियाँ घरों में प्रवेश करें। सतीप्रथा के समर्थकों ने मन्त्र के 'योनिमग्रे' को बदल कर 'योनिमग्ने' करके यह कहा कि यहाँ स्त्री के अग्नि में प्रवेश करने का विधान है। मन्त्र में अविधवा पद पठित है, किन्तु पण्डितों ने इसे विधवा बनाकर कहा कि विधवा को अग्नि में प्रवेश करना चाहिए। राजा राममोहन राय स्वयं वेदों के विद्वान् न थे। उन्होंने दक्षिण भारत के पण्डितों को बुलाकर मन्त्र का जटापाठ प्रस्तुत करने को कहा तो उन्होंने अविधवा पद ही ठीक बतलाया इसी प्रकार 'योनिमग्रे' पद ही शुद्ध है। न्यायालय ने मन्त्र के शुद्ध पाठ को सुनकर सतीप्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसे अज्ञान कहा जाए या वेद के नाम पर धोखा कहा जाए कि मूर्त्तिपूजा के समर्थकों ने 'योनिमग्रे' को बदल कर 'योनिमग्ने' कर दिया था तथा प्रमाण रूप में उपस्थित करके कहा था कि इस मन्त्र में कहा गया है कि विधवा स्त्री के चिता में प्रवेश का विधान है। ये सब कलङ्कित कार्य वेदों के नाम पर किये गये। वेदों में तो नारी को बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। सती प्रथा का वहाँ कोई प्रसंग नहीं है। सती प्रथा का भयंकर रूप राजस्थान में भी देखने को मिला। अकबर आदि मुगलों के द्वारा क्षत्रिय राजपूतों की हत्या कर दिये जाने पर अनेक राजपुतानी नारियाँ सती हो गयीं। पद्मिनी भी इनमें थी। इस कार्य को जौहर नाम दिया गया। यह कार्य भी सर्वथा अनुचित था। यह सर्वमान्य बात थी कि विधवा होने पर ही सती हुआ जाता था, किन्तु यहाँ मन्त्र में तो स्पष्ट रूप में अविधवा पद पठित है। इससे सती प्रथा का प्रतिपादन किस प्रकार किया जा सकता है? वर्त्तमान काल में महर्षि दयानन्द ने विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रतिपादन किया है। इसके बिना उनका जीवन नारकीय बना रहता था।

मन्त्रों के अर्थों में इतनी तोड़-मरोड़ तथा मनमानी के विषय में प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि ''विवेकहीन धर्म के ठेकेदार क्या कुछ कर सकते हैं, यह उसका ज्वलन्त उदाहरण है। एक सन्दर्भ को तोड़-मरोड़

कर उसके अशुद्ध अर्थ करके तथा उसका मिथ्या विनियोग करके हजारों की हत्या कर दी गयी।''

This is perhaps the most flagrant instance of what can be done by an unscrupulous priest-hood. Here how the lives of thousbnds been sacrificed and the authority of a passage which was mangled, mistranslated and misapplied.

ऋग्वेद १०।९५।१५ के एक अन्य मन्त्र के आधार पर यह भी कहा जाता है कि वेद में स्त्रियों को भेड़िये के समान कठोर हृदय वाली कहकर निन्दा की गयी है—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः।' वस्तुतः यहाँ भी स्त्रीनिन्दा नहीं है। यहाँ पुरूरवा तथा उर्वशी का प्रसङ्ग चल रहा है। उर्वशी कहती है कि स्त्रियों के साथ अत्यन्त सख्यभाव=कामासक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे करने पर ये पुरुषों के लिए कठोरहृदया हो जाती हैं। पुरूरवा की भी यही स्थिति है। यह वचन पुरूरवा तथा उर्वशी की तात्कालिक मनोदशा का ज्ञापक है, अन्य कुछ नहीं।

वेद तथा वामनावतार

वेद के कुछ मन्त्रों के आधार पर वेदों में अवतारवाद की कल्पना भी की जाती है। इनमें विष्णु का अवतार सुप्रसिद्ध है। इसकी लोक-प्रचलित कथा यह है कि दैत्यों के राजा बलि ने विशाल यज्ञ रचाया। इससे देवों को आशंका हुई कि इस प्रकार तो बलि राजा हमसे आगे बढ़ जायेगा। उन्होंने विष्णु भगवान् के सामने अपनी शंका व्यक्त करके प्रार्थना की कि बलि के यज्ञ का बीच में ही विध्वंस करना चाहिए। विष्णु उनकी प्रार्थना को सुनकर वामन रूप बनाकर उस स्थान पर गये, जहाँ यज्ञ हो रहा था। राजा ने ब्राह्मण वामन का यथोचित सत्कार करके उनकी इच्छा पूछी, तो वामन ने साढ़े तीन कदम पृथिवी की याचना की। बलि ने तुरन्त ही इसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद वामन ने विराट् रूप धारण करके एक कदम में समूची पृथिवी, दूसरे कदम से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष तथा तीसरे कदम से समस्त द्युलोक को नाप दिया। इस प्रकार आधे कदम के लिए कोई भी स्थान शेष न बचा। परिणामस्वरूप बलि अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका। अतः उसका यज्ञ सफल नहीं हुआ।

जिन मन्त्रों के आधार पर यह कल्पना की गयी है, उनमें कई बार 'विचक्रमे' पद आया है। इसके साथ कुछ मन्त्रों में 'त्रि' तथा 'त्रीणि' पद भी पठित हैं। इनके आधार पर ही कल्पना करली गयी कि विष्णु ने तीन बार पृथिवी को नापा। इस कल्पना में जिस मन्त्र को प्रमुख आधार बनाया गया है, वह इस प्रकार है—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥

—ऋ० १।२२।१७; यजु० ६।१५; साम० ३।१।३९; अथर्व० ७।२६।४

इसके अतिरिक्त अन्य मन्त्रों में भी 'विचक्रमे' पद पठित है।[१] सायणाचार्य ने यहाँ वामनावतार की कल्पना करते हुए लिखा है कि त्रिविक्रमावतार धरती विष्णु ने प्रतीयमान जगत् को लक्षित करके तीन कदम रखे।[२] महीधर ने भी अवतार का वर्णन करते हुए ऐसी ही कल्पना की है, किन्तु साथ ही उन्होंने पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक में अग्नि-वायु तथा सूर्य के रूप में तीन विक्रमण मानकर मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या भी की है।[३] सर्वप्रथम यास्काचार्य ने मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या करते हुए कहा था कि सूर्य ही पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में अपने चरण, अर्थात् किरणें फैलाता है।[४] महर्षि दयानन्द ने विष्णु का अर्थ परमेश्वर करते हुए मन्त्र की व्याख्या सृष्टिरचना के प्रसङ्ग में इस प्रकार की है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति-परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रियों को द्युलोक में। इस प्रकार से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है।

'भौतिक विज्ञान का भविष्य' नामक पुस्तक में परमाणु को ही वामन मानते हुए कहा है कि परमाणु ने ही सबको अपने स्वरूप की महिमा से ढक रखा है। वामन तथा विराट् दोनों अनन्त हैं। वामन ही विराट् बनता है। शक्ति की जो नियमित गति ब्रह्माण्ड की रचना में है, वही परमाणु की कुक्षी में भी मिलती है। यद्यपि विष्णु वामन है, किन्तु ऋग्वेद में उसे बृहत्शरीरी=बड़े शरीर वाला भी कहा गया है। परमाणु वामन भी है तथा विश्व के पदार्थों में उसका बृहत् शरीर भी देखा जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भी है तथा विश्व में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण विष्णु भी है। सूर्य भी प्रातःकाल तो वामन रूप में है, किन्तु दिन में वही सूर्य पृथिवी तथा आकाश में फैलकर विष्णु बन जाता है। इस प्रकार बलि राजा तथा वामन का यहाँ कुछ भी उल्लेख नहीं है।

---

१. ऋ० १।२२।१६, १८; ऋ० ७।१।४; ऋ० ८।१२।१७; ऋ० ८।२९।७।

२. विष्णुस्त्रिविक्रमावधारीदं प्रतीयमानं सर्वं जगद् उद्दिश्य विचक्रमे।

३. सर्वप्राणिनो हि मनोजीवभावेन विशतीति विष्णुः। भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायु सूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदम्। (यजु० ५।१५, उव्वट भाष्य)

४. यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निधत्ते पदम् त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति। (नि० १२।१९)

शतपथ ब्राह्मण में यह आख्यान कुछ अन्य रूप में दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि असुरों ने पृथिवी को बाँटते हुए देवों को केवल इतना भाग दिया कि जिसमें विष्णु लेट सके। विष्णु यज्ञ था। देवों ने यज्ञ को आगे करके असुरों से अपना भाग माँगा। देवों ने विष्णु=यज्ञ को पूर्व की ओर लिटाकर तीन ओर से छन्दों से घेर दिया तथा पूर्व की ओर अग्नि प्रज्ज्वलित करके श्रम करने लगे। इससे इन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी को प्राप्त कर लिया। शतपथ की इस कथा का अभिप्राय यह है कि यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञकुण्ड नीचे से वामन अर्थात् बहुत छोटा होता है तथा ऊपर विस्तार को धारण कर लेता है। यज्ञ की अग्नि तीनों लोकों में व्याप्त हो जाती है, यही उसका विष्णु रूप है। इसीलिए कहा गया है कि 'यज्ञो वै विष्णुः' अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। शतपथ में यह भी कहा गया है—वामनो ह विष्णुरास। अर्थात् विष्णु वामन ही था। इस प्रकार परमेश्वर, यज्ञ तथा सूर्य ही विष्णु पद वामन हैं। वेद में किसी प्रकार की लौकिक कथा का संकेत इस सन्दर्भ में नहीं है।

वेद तथा जुआ

यह आक्षेप भी किया जाता है कि वैदिक काल में जुआ खेला जाता था। इसका आधार यह माना जाता है कि ऋग्वेद (१०।३४) एक अक्षसूक्त है। इस पूरे सूक्त में एक जुआरी की दशा का वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जुआ खेलने से पहले जुआरी के पास धन-सम्पत्ति, पशु, घर, पत्नी आदि सब कुछ था, किन्तु वह सब कुछ जुए में हार कर बिल्कुल कंगाल हो गया। यहाँ तक कि उसने अपनी पत्नी को भी दाँव पर लगा दिया। इस कारण जुआरी के माता-पिता, पत्नी आदि सब उससे दूर हो गये। उसे घर से भी निकाल दिया गया। इस समय उसकी यह स्थिति है कि साहूकारों के कर्ज से दब कर वह रात्रि में सड़कों पर ही इधर-उधर सोकर रात बिताता है, क्योंकि घरवालों ने उसे घर से निकाल दिया है। वेद का यह वर्णन हमें महाभारत काल की याद दिलाता है कि युधिष्ठिर ने कौरवों के साथ जुआ खेलकर अपना राजपाट सब कुछ गँवा दिया था यहाँ तक कि द्रौपदी को भी उसने दाँव पर लगा दिया था जिस कारण द्रौपदी को भी अपमान सहन करना पड़ा। उस वर्णन में तथा वेद में वर्णित जुए के वर्णन में पर्याप्त समानता होने पर भी यह अन्तर है कि वेदोक्त वर्णन में जुआरी को उसके घरवाले घर से बाहर कर देते हैं तथा कह देते हैं कि 'नयता बद्धमेतम्' इसे बाँधकर ले जाओ, हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यही अवस्था श्रेष्ठ है। अभी भी संसार में दुष्ट व्यक्ति से उसके घरवाले सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं, जिस कारण दण्ड से बच जाते हैं। महाभारत काल में बड़े भाई का आदर करते हुए

भीम आदि चारों भाइयों ने युधिष्ठिर के इस दुष्कृत्य का विरोध नहीं किया, उल्टे उसका साथ दिया। यही उनकी भूल थी, जिसका दण्ड उन्हें भुगतना पड़ा। यदि वे वेद के आदेशानुसार युधिष्ठिर का साथ न देते, तो उन सबको युधिष्ठिर के किये का दण्ड न भुगतना पड़ता। इस प्रकार अन्त में सभी प्रकार से तंग होकर वह प्रतिज्ञा करता है कि मैं भविष्य में कभी भी जुआ नहीं खेलूँगा। दो मन्त्रों में विस्तार से जुए के दोष भी बतलाये गये हैं।[१] इनका भाव है कि जुए के पासे अङ्कुश के समान प्रहार करने वाले हैं। ये व्यक्ति को अन्दर से सन्तप्त करते रहते हैं। विजयी होने पर पुनः पराजय करा देते हैं, अतः जीता गया धन भी लौट जाता है। ये विचित्र प्रकार के अंगारे हैं कि स्पर्श में ठण्डे होते हुए भी हृदय को जला देते हैं। इनके हाथ नहीं हैं पुनरपि हाथ वाले जुआरी को हरा देते हैं। वरुण सूक्त के एक मन्त्र में अपराध के कारणों शराब, क्रोध, अज्ञान आदि के साथ ही जुए को भी अपराध का प्रेरक कहा गया है।[२] जुआरी के इस वर्णन को पढ़कर आलोचक कहते हैं कि वैदिक काल में जुआ खेला जाता था तथा जुआ खेलने वाले किसी जुआरी का वास्तविक वर्णन ही वहाँ पर किया गया है। यह तर्क भी दिया जाता है कि जो कार्य पहले से हो रहा हो, उसका ही निषेध किया जाता है। वेद में जुआ खेलने का निषेध ही यह बतलाता है कि उस काल में जुआ खेला जाता था इसीलिए वेद में उसका निषेध किया गया है। ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वेद तो सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है। ऐसे में मनुष्य के उन दुर्गुणों तथा दोषों का भी वर्णन किया गया है जो कि किसी भी काल में उसके द्वारा किये जा सकते हैं। वेद की दृष्टि वर्त्तमान के साथ भूत तथा भविष्य पर भी रहती है। तभी तो मनुजी कहते हैं कि—'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।' अर्थात् भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य में होने वाला सब कुछ वेदों में वर्णित है। इस सूक्त में भी जुए के दोष दिखला कर अन्त में कहा गया है कि हे मानव! तू जुआ मत खेल। चाहे कृषि आदि कार्यों के द्वारा परिश्रम करके ही अपना निर्वाह कर तथा वहाँ जो भी प्राप्ति हो, उसी में सन्तुष्ट रह।[३] तृष्णा को बढ़ा कर मुफ्त की कमायी की इच्छा मत कर। पूरे सूक्त के द्वारा जुआरी के माध्यम से वेद यही शिक्षा देना चाहता है।

---

१. अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनोनिकृत्वानस्तपना तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वासम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥ (मं० ७)
नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ (मं० ८)

२. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा मन्युर्विभीदकोऽचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चैनदनृतस्य प्रयोता॥ (ऋ० ७।८६।६)

३. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः। (ऋ० १०।३४।१३)

अथर्ववेद विषयक भ्रान्ति

अथर्ववेद के विषय में तो पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरित विद्वानों में बहुत अधिक भ्रान्तियाँ हैं। यथा—

(१) अथर्ववेद की रचना पर्याप्त बाद में हुई। पहले तो इसे वेद माना ही नहीं जाता था।

(२) अथर्ववेद में जादू-टोना, इन्द्रजाल, सम्मोहन, वशीकरण आदि के मन्त्र पर्याप्त हैं। इसी कारण इसे जादू-टोने का वेद भी कहा जाता है।

(३) अथर्ववेद का बीसवाँ काण्ड प्रक्षिप्त है, जिसे बाद में मिलाया गया।

(४) वेदत्रयी के अन्तर्गत ऋग्, यजु तथा सामवेद ही आते हैं, अथर्ववेद नहीं।

इन सभी आक्षेपों पर पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। वैसे भी इन सभी के उत्तर के लिए अलग से ही पुस्तक की आवश्यकता है। अतः इस पुस्तक में विस्तार से नहीं लिखा जा सकता। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि अथर्ववेद जादू-टोने का वेद नहीं है। इस वेद के अनेक नाम हैं। उनमें एक नाम भिषग्वेद भी है। इस नाम का कारण यह है कि अथर्ववेद में चिकित्सा वर्णन विस्तार से है। अनेक रोगों के नाम, रोगोत्पादक सूक्ष्म क्रिमियों के नाम, रोगों के कारण तथा उन रोगों की चिकित्सा यह सब अथर्ववेद में वर्णित है। यह चिकित्सा भी कई प्रकार की है—(१) शल्यचिकित्सा, (२) ओषधिचिकित्सा, (३) मणिबन्धन आदि, (४) मनोवैज्ञानिकचिकित्सा। इसीलिए सुश्रुत में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग कहा गया है।

अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद भी है। इस नाम का कारण यह है कि इसमें ब्रह्मविषयक वर्णन भी अति उत्तम रूप में किया गया है। इस विषय में अथर्ववेद का स्कम्भ सूक्त सुप्रसिद्ध है। अथर्ववेद वस्तुतः विज्ञान का वेद है। इसमें आध्यात्म, चिकित्सा, शिक्षा, परिवार, समाज, राजनीति, दर्शन, अर्थ, राष्ट्र, शासनव्यवस्था आदि अनेक विषयों का समावेश है। ऋग्वेदादि को त्रयी कहने का यह अभिप्राय है कि ज्ञान, कर्म तथा उपासना के रूप में तीन ही विद्याएँ होती हैं। यद्यपि ऋगादि तीनों वेदों में भी इन तीनों विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है, तथापि ऋग्वेद में तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सभी पदार्थों का ज्ञान दिया गया है। वहाँ पर मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी, इन्द्रसोमौ, अश्विनौ आदि युगल देवताओं के प्रतिपादक अनेक सूक्त तथा मन्त्र हैं। ये युगल देव अनेक मन्त्रों के

---

१. इह खलु आयुर्वेदं नाम उपाङ्गमथर्ववेदस्य। (सुश्रुत १।५)

देवता=प्रतिपाद्य विषय भी हैं। इनका स्वरूप क्या है, यह अभी भी सुस्पष्ट नहीं है। यथा अश्विनौ कभी-कभी शिल्पकार्य करते दिखलायी देते हैं तो कभी-कभी चिकित्सारत भी दिखलायी देते हैं, ये दोनों विश्पला की टूटी टाँग के स्थान पर नयी टाँग लगा देते हैं। इसीलिए इन्हें 'देवानां भिषजा' भी कहा गया है। इनकी व्याप्ति लगभग सभी कार्यों में है। इसी प्रकार मित्रावरुणौ का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं है। इन्हें कार्बन तथा हाईड्रोजन नामक गैस भी माना जाता है। ऋग्वेद का अग्नि रसोई घर में जलने वाली साधारण अग्नि नहीं है, अपितु उसके कई स्वरूप हैं। सूर्य भी अग्नि है, परमेश्वर भी अग्नि है, आत्मा भी अग्नि है। यन्त्रों तथा विज्ञान की प्रयोगशाला में प्रयुक्त होने वाली विद्युत् भी अग्नि है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वर्णित सोम भी विश्वरूप है। अग्नि तथा सोम की व्यापकता के कारण ही कहा गया है—'अग्निसोमात्मकं जगत्।' संसार की सृष्टि अग्नि तथा सोम नामक दो पदार्थों से ही हुयी है। वर्तमान संसार में भी इसके आधार पर ही नाना कार्य तथा अन्वेषण किये जा रहे हैं। ऋग्वेद में इन सभी का वर्णन है, इसीलिए इसे ज्ञान से सम्बन्धित माना जाता है। वस्तुओं का यथावत् ज्ञान होने के उपरान्त ही उनसे अभीष्ट कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं। ऋग्वेद के विषय में महर्षि दयानन्द ऋग्वेदभाष्यभूमिका में लिखते हैं—

"ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति। एतद्विद्याविधायकत्वाद् ऋग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति।" अर्थात् ऋग्वेद में सभी पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया गया है। इस कारण पदार्थविद्या का विधायक होने से ऋग्वेद की गणना प्रथम ही है।

पदार्थों के यथावत् ज्ञान के पश्चात् ही उनसे विविध प्रकार के कार्य किये जा सकते हैं। इसलिए दूसरे नम्बर पर यजुर्वेद की गणना है। इसे कर्म का प्रतीक माना जाता है। इसके प्रथम मन्त्र में ही 'देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' कहकर कर्म की प्रेरणा दी गयी है तथा अन्तिम चालीसवें अध्याय में पुनः कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः।

अर्थात् कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए, कर्महीन होकर नहीं। यजुर्वेद के विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द कहते हैं—

तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययानेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति। यजुर्वेदे एतद्विद्या प्रकाशकत्वाद द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्।

अर्थात् यजुर्वेद में गुण-धर्म से परिज्ञात पदार्थों के सामर्थ्य से अनेक

क्रियाओं द्वारा अनेक विद्याओं के ग्रहण से उपकार के लिए कर्मकाण्ड का विधान किया गया है।

इसके पश्चात् सामवेद आता है। इसे मुख्यतः उपासना का वेद माना जाता है। यद्यपि सामवेद में उपासना के मन्त्र पर्याप्त हैं, तथापि उपासना विषय वहाँ पर अधिक है। वेद स्वयं भी कहता है—इन्द्राय साम गायत। यज्ञ की समाप्ति पर उद्गाता नामक ऋत्विज सामवेद के मन्त्रों का ही गान करता है। सामवेद के विषय में महर्षि दयानन्द कहते हैं—

तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलविधिपर्यन्तं विद्याविचारः। सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यते इति।

अर्थात् सामवेद में ज्ञान, क्रिया, विद्या के विचार द्वारा जो फलप्राप्ति होती है, उस विद्या का विचार किया गया है। इसके बाद अथर्ववेद है। यह विज्ञान का वेद कहलाता है। इसमें नाना विद्याओं का समावेश है। ज्ञान कर्म उपासना के मन्त्र भी इसमें हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी नाना विषय अथर्ववेद के हैं। इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते हैं—

एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षोन्नती विहिते स्तः। एवमेवाथर्ववेद-त्रयान्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थ परिगण्यत इति॥

अर्थात् अथर्ववेद में भी तीनों वेदों में जो विद्या तथा विद्या के फल का विचार किया गया है, उसकी पूर्त्ति व संशय निवृत्ति करके रक्षा और उन्नति का विधान किया गया है। इस प्रकार अथर्ववेद तीनों वेदों के अन्तर्गत आने वाली विद्याओं की पूर्त्ति तथा रक्षण का विधायक होने से चतुर्थ गिना जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अथर्ववेद न तो झाड़-फूंक, मारण-उच्चाटन तथा जादू-टोने का वेद है तथा न ही तीनों वेदों की अपेक्षा उत्तरवर्त्ती अथवा महत्त्वहीन है। अथर्ववेद का महत्त्व इससे भी सिद्ध है कि चतुर्वेदवेत्ता को ही ब्रह्मा कहते हैं। आजकल भी यज्ञों में यज्ञ कराने वाले को ब्रह्मा ही कहा जाता है।

अथर्ववेद का नाम अन्य वेदों में भी है। इससे तो बिल्कुल ही स्पष्ट है कि यह वेद शेष तीनों वेदों से उत्तरवर्त्ती नहीं है। निम्न इस विषय में प्रमाण है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳪंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजु० ३१।७

यहाँ पर छन्दांसि पद अथर्ववेद का ही वाचक है, क्योंकि अन्य तीनों वेदों का उल्लेख तो नाम लेकर कर ही दिया गया है। बृहदारण्यक

उपनिषद् में सनत् कुमार के पूछने पर नारदजी कहते हैं—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम्।

अर्थात् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को पढ़ा है। इस प्रकार अथर्ववेद न तो परवर्त्ती है तथा न ही महत्त्वहीन। यह विज्ञान का वेद है, जादू-टोने का नहीं। इस विषय में लेखक की पुस्तक 'क्या अथर्ववेद में जादू-टोना है' में भली-भाँति इस विचार का निराकरण किया गया है, जो श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास से प्रकाशित तथा प्राप्य है।

वेदों में क्या है?

कुछ लोग वेदों पर तरह-तरह के आक्षेप भी करते हैं। ये वे लोग हैं, जिन्होंने या तो वेद स्वयं पढ़े नहीं, सायण आदि के संस्कृतभाष्य तथा पाश्चात्य विद्वानों के अंग्रेजीभाष्य देखे हैं। उन भाष्यों को पढ़कर वस्तुतः नाना शंकाएँ या प्रश्न होते ही हैं। दूसरी कोटि के वे आक्षेपकर्त्ता हैं, जो सत्य को जानकर भी अपने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रहवश वेदों का मिथ्या आक्षेप करते रहते हैं। इनमें वामपन्थी विचारधारा से प्रेरित व्यक्ति अधिक हैं।

वेदों में क्या है, यह विषय अति विस्तृत है, इस पर अति संक्षेप में यहाँ कुछ कहा जा रहा है। इस विषय में हमें मनु का निम्न कथन स्मरण रखना चाहिए—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।

अर्थात् वेदों में भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान तीनों कालों से सम्बन्धित सभी कार्यों का उपदेश है। यद्यपि लौकिक पदार्थों तथा क्रियाओं के प्रतिपादक तो अनेक ग्रन्थ लोक में भी हैं, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं, जिनका वास्तविक स्वरूप वेदों से ही जाना जा सकता है, अन्य शास्त्रों से नहीं। ये तत्त्व तीन हैं—धर्म, कर्म तथा ईश्वर। यद्यपि अन्य शास्त्र भी इनकी चर्चा करते हैं, किन्तु इनका शुद्ध स्वरूप वेदों से ही जाना जा सकता है। ये तत्त्व इस प्रकार वेदों में वर्णित हैं—

(१) **ईश्वर**—इस विषय में (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) कहता है—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।' अर्थात् जो वेदवेत्ता नहीं है, वह उस महान् ब्रह्म को नहीं जान सकता। क्यों नहीं जान सकता? क्योंकि अन्य सभी पुस्तकें मनुष्यकृत होने से पूर्ण विद्यायुक्त नहीं हैं, जबकि वेद सृष्टि की आदि में परम पवित्र ऋषियों के अन्तःकरण में स्वतः स्फूर्त ज्ञान है। इसे दैवीयज्ञान भी कह सकते हैं। वेदों में परमेश्वर का जो सर्वाङ्ग पूर्ण स्वरूप वर्णित है, वैसा विश्व के किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। अन्य सभी ग्रन्थों के

लक्षण अति व्याप्ति तथा अव्याप्ति दोषों से युक्त हैं। वेद में परमेश्वर का लक्षण कई स्थानों पर किया गया है, जो सर्वथा पूर्ण है। यथा—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

—यजु० ४०।८

यह परमेश्वर का पूर्ण लक्षण है इसमें अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष नहीं है। इसी प्रकार 'रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' आदि लक्षण है।

(२) **धर्म**—यही अवस्था धर्म की है। लोक में विभिन्न प्रकार की पूजा पद्धतियों तथा बाह्यवेश आदि को ही धर्म मानकर तदनुसार ही धर्म के लक्षण किये गये हैं। वेद सार्वभौम तथा सार्वदेशिक ज्ञान है। अतः वेदों में प्रतिपादित धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर सम्पूर्ण विश्व का धर्म है। इसीलिए मनुजी कहते हैं—

धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु० २।१३)

वेद का धर्म सम्पूर्ण विश्व का धर्म है। इस धर्म के विषय में वेद कहता है—'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।' अर्थात् जैसे एक घोसलें में पक्षियों का पूरा परिवार रहता है, उसी प्रकार वैदिकधर्म के अन्दर सम्पूर्ण विश्व समाविष्ट है। यह धर्म किसी एक जाति, या एक देश के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व के लिए है तथा सबके लिए समान है। सत्य, प्रेम, अहिंसा, न्याय, दया, त्याग, दीक्षा, तप, प्रेम, अस्तेय आदि गुण इस धर्म के अंग हैं। ये गुण समस्त संसार के लिए आवश्यक हैं। वेदों में इन्हें ही संसार के धारक तत्त्व कहा गया है। सत्य के लिए स्पष्ट ही कहा है—'सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः।' अर्थात् यह भूमि तथा वह द्युलोक सत्य के द्वारा ही स्थित है। ज्यों-ज्यों पृथिवी पर असत्य बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों अराजकता तथा अशान्ति भी बढ़ती जा रही है।

लोक में धर्म के नाम पर अनेक गर्हित कार्य भी प्रचलित है। मुसलमान ईद के अवसर पर अल्लाह के नाम पर बकरों की बलि देना ही धर्म मानते हैं, इसी प्रकार हिन्दू भी काली आदि की मूर्त्ति के आगे बकरों तथा भैंसों की बलि देने को धर्म मानते हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में भी इन क्रूर कार्यों को धर्म के नाम पर किया जाता है। यथा—भारत में श्री अटल विहारी वाजपेयी जी के प्रधानमन्त्रित्व काल में डॉ० मुरली मनोहर जोशी शिक्षामन्त्री थे। जोशी जी विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर रहे हैं, किन्तु आडवाणी जी की रथयात्रा का प्रारम्भ करते समय भैंसे की बलि धर्म के नाम पर दी गयी थी। पता चलने पर वाजपेयी जी ने भी कहा था कि भैंसे की तो नहीं, किसी मुर्गे, बकरे आदि छोटे प्राणी की बलि दी जा सकती थी। बात तो तब भी वही थी। बकरों तथा

मुर्गों में भी जीव है, वह भी जीवहत्या है। जो धर्म जीवहत्या का प्रतिपादक है, वह वास्तविक धर्म न होकर अधर्म ही है। वेद तो कहता है—'अनागो हत्या वै भीमा।' अर्थात् निरपराध प्राणी की हत्या करना अपराध है, पाप है। वेद इसकी आज्ञा नहीं देता। वेद तो कहता है—

प्रियः पशूनां भूयासम्। पशुं मां हिंसीः।

मैं पशुओं का भी प्रिय बनूँ। किसी भी पशु की हिंसा मत करो इस प्रकार धर्म के वास्तविक स्वरूप को भी वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है।

(३) **कर्म**—तीसरा तत्त्व कर्म है। संसार में अनेक प्रकार के कर्म सभी व्यक्ति करते हैं, किन्तु उनमें कौन-सा कर्म शुभ है तथा कौन-सा अशुभ, इसका ध्यान नहीं रखा जाता। वेद तो स्पष्ट रूप में घोषणा करता है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। (यजु० १।१)

अर्थात् सर्वप्रेरक परमेश्वर ने मानव को लोक में श्रेष्ठतम कार्य करने के लिए ही भेजा है। सत्य, न्याय, दया, प्रेम, विश्वबन्धुत्व आदि कार्य ही श्रेष्ठतम हैं। इनके विपरीत अश्रेष्ठ। संक्षेप में समष्टि के हितार्थ किया जाने वाला कर्म श्रेष्ठ है तथा समष्टि के प्रतिकूल किया जाने वाला कर्म अश्रेष्ठ है। समष्टि को ध्यान में रखकर ही वेद कहता है—'लोकं पृण।' अर्थात् संसार को तृप्त करो। 'केवलाघो भवति केवलादी' अकेला खाने वाला पापी होता है। वेद में शुभकर्मों का प्रतीक यज्ञ को माना गया है। इसीलिए मानव जीवन को भी यज्ञमय बनाने के लिए वेद कहता है—'इयं ते यज्ञिया तनूः।' हे मानव, यह तेरा शरीर यज्ञीय है, यज्ञाग्नि की भाँति पवित्र है, विश्व का उपकारक है। तू इसे अपने स्वार्थ के कारण परार्थहनन करके अयज्ञिय मत बना, क्योंकि—"अयज्ञियो हर्तवर्चा भवति।" अयज्ञिय व्यक्ति तेजरहित होता है। वह स्वार्थी तथा परहित विनाशक होता है। अतः उसमें तेज रह ही नहीं सकता। उसका स्वार्थ उसके तेज को नष्ट कर देता है। याज्ञिक व्यक्ति का चेहरा देदीप्यमान होगा, तेजस्वी होगा। इस प्रकार ईश्वर, धर्म तथा कर्म का यथार्थ स्वरूप हमें वेदों से ही प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में क्या है ?

अथर्ववेद का परिचय—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की गणना में अथर्ववेद को चतुर्थ वेद माना जाता है। चतुर्थ का अभिप्राय यह नहीं है कि यह वेद अन्य वेदों की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से न्यून या हीन है। ऐसी बात भी नहीं है कि यह वेद बाद में बना हो। कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् ऐसा ही मानते हैं कि अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा परवर्त्ती है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। चारों वेदों का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही ऋषियों के हृदय में प्रकट हुआ था।

वस्तुतः यहाँ पर चतुर्थ पूर्णता का द्योतक है। भारतीय संस्कृति में चार संख्या का पर्याप्त महत्त्व है। यथा ब्राह्मणादि चार वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम इत्यादि। दिशाएँ भी चार हैं, जिन्होंने समस्त ब्रह्माण्ड को घेरा हुआ है। ब्रांह्मणादि तीनों वर्णों के अपने कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु शूद्र नामक चतुर्थ वर्ण इन तीनों में व्याप्त है, क्योंकि तीनों वर्णों की सेवा करना ही उसका धर्म है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी आदि तीनों वर्णों के कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु संन्यासी इन सबमें व्याप्त है, क्योंकि उसका कार्य तीनों वर्णों को उपदेश देना है। इसी प्रकार ऋग्वेद को ज्ञान का, यजुर्वेद को कर्म का तथा सामवेद को उपासना का प्रतीक माना जाता है। अथर्ववेद का पृथक् से कोई क्षेत्र न होकर वह इन तीनों वेदों में व्याप्त है। अर्थात् तीनों वेदों के विषय उसमें समाविष्ट हैं। इसीलिए अथर्ववेद को विज्ञान का वेद माना जाता है। विज्ञान का अर्थ विविध प्रकार का ज्ञान है, साइंस नहीं तथा यह सुस्पष्ट है कि अथर्ववेद में बहुत से विषयों का समावेश है, जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जायेगा।

अथर्ववेद बीस काण्डों में विभाजित है। प्रत्येक काण्ड प्रपाठक तथा प्रत्येक प्रपाठक अनुवाकों में विभाजित है। अथर्ववेद की मन्त्र संख्या ५९७७ हैं तथा सम्पूर्ण अथर्ववेद में छत्तीस प्रपाठक हैं।

अथर्वन् शब्द का अर्थ—अ+थर्वन् में थर्व धातु कुटिल चञ्चल तथा हिंसादि के अर्थ में है। इस प्रकार अथर्व का अर्थ अकुटिल, अचञ्चल तथा अहिंसक होता है। कोष आदि में अथर्ववेद का अर्थ अग्निहोत्री, पुरोहित, ऋषिविशेष, राजनीति आदि में कुशल, ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र, चतुर्थ वेद का ज्ञाता तथा प्रचारक माना गया है।

अथर्वा का सम्बन्ध—भृगु तथा अङ्गिरा से अथर्वा का विशेष सम्बन्ध है। कहीं-कहीं तो अथर्वा तथा अंगिरस् दोनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। भारतीय परम्परानुसार अंगिरा ऋषि पर ही अथर्ववेद प्रकट हुआ था। अथर्ववेद वस्तुतः अथर्वांगिरोवेद का ही संक्षेप है।

अथर्व एवं अंगिरा अथर्ववेद से सम्बद्ध दो ऋषियों के नाम हैं। अथर्वा का उल्लेख ऋग्वेद में भी पाया जाता है।[1] अथर्ववेद में अथर्वा को शान्त तथा भेषज गुणों वाले मन्त्रों तथा कार्यों से सम्बन्धित किया गया है। ऋग्वेद में अंगिरा का भी बहुत बार उल्लेख हुआ है। यास्काचार्य ने अंगिरा की व्युत्पत्ति अंगार शब्द से की है। अतः अंगिरा का सम्बन्ध अग्नि से सुस्पष्ट है। इसके अनुसार अपनी शक्ति से जला देने वाला नष्ट कर देने वाला ही अंगिरा है। इस प्रकार अथर्ववेद के शान्त तथा घोर दो पक्षों से सम्बन्द्ध ऋषियों के नाम पर अथर्वांगिरो वेद सिद्ध होता है।

अथर्ववेद के अन्य नाम—अथर्ववेद के कई नाम उपलब्ध होते हैं। यथा—अंगिरोवेद, ब्रह्मवेद, भृग्वगिंरोवेद तथा अथर्वाङ्गिरसवेद ये सभी नाम अथर्ववेद के ही हैं।

(१) ब्रह्मवेद—अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इसके दो करण हैं। प्रथम यह कि ब्रह्मा नामक ऋषि के साथ अथर्ववेद के अनेक सूक्तों का सम्बन्ध है। पाश्चात्य विद्वान् ब्लूमफील्ड के अनुसार अथर्ववेद में ब्रह्म सम्बन्धी सूक्तों की अधिकता के कारण इसका नाम ब्रह्मवेद है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि देवों में सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने अथर्वा नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने इस विद्या को अङ्गी नामक ऋषि को प्रदान किया। तदनन्तर अङ्गी ने भरद्वाज को तथा भरद्वाज ने अङ्गिरा ऋषि को इस विद्या को दिया।[2] अथर्ववेद के एक मन्त्र (अथर्व० १९।२२।२१) में भी 'भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे' कहकर ब्रह्मा को सर्वप्रथमोत्पन्न बतलाया गया है। सम्भवतः इसी आधार पर मुण्डकोपनिषद् में उक्त परम्परा का प्रतिपादन किया गया है।

(२) भिषग्वेद—अथर्ववेद में विभिन्न रोगों तथा ओषधियों का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है। अतः इसे भिषग्वेद भी कहते हैं।

(३) क्षत्रवेद—राजनीति के सभी पक्षों का विशद् वर्णन करने के कारण अथर्ववेद को क्षत्रवेद भी कहते हैं।

(४) भृग्वंगिरो वेद या भृगुवेद—जिस प्रकार अंगिरा का सम्बन्ध अग्नि से है, उसी प्रकार भृगु का सम्बन्ध भी अग्नि से है। निरुक्त ३।१७ के अनुसार भृगु शब्द 'भ्रस्ज पाके' धातु से निष्पन्न है।

अथर्ववेद के वर्ण्यविषय—अथर्ववेद का सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से है। इसमें चारों वर्णों तथा धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित सभी प्रकार की सामग्री विद्यमान है। अथर्ववेद में प्रतिपादित विषयों का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है—अध्यात्म, मेधाजनन, ब्रह्मचर्य, ग्राम-नगर-दुर्ग तथा राष्ट्र की रक्षा, पशु, धन-धान्य,

१. ऋ० १०।१२०।९, ६।१६।१३, १०।२१।५, १।८३।५ इत्यादि।
२. मु० उप० १।१।१-२।

सम्पत्ति साधन, प्रजाएकता सम्पादन, राजनीति, शत्रुनाशन, पापक्षय, कृमिनाशन, रोगनिवारण, विवाह, दीर्घायुष्य-सम्पादन, मनोविज्ञान आदि अनेक विषयों का समावेश अथर्ववेद में है। इसी कारण अथर्ववेद को धर्म, राजनीति, रोग, ओषधि तथा आदि का विश्व-कोष कहा गया है।[1]

अथर्ववेद के विषय में भ्रान्ति—अथर्ववेद के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ भी हैं। उनमें से एक भ्रान्ति यह है कि अथर्ववेद को जादू-टोने, मारण-उच्चाटन-वशीकरण सम्मोहन आदि का वेद समझा जाता है। कहा जाता है कि इसके मन्त्रों का अनुष्ठान करके दूर बैठे ही किसी स्त्री आदि को आकृष्ट करके वश में किया जा सकता है। शत्रुसेना का विनाश किया जा सकता है तथा कृत्याओं (घात) के प्रयोग से दूर बैठे ही शत्रु का वध किया जा सकता है। झाड़-फूँक, ताबीज आदि को मन्त्रपूर्वक बाँधने से अनेक रोगों का निवारण किया जा सकता है। यह सब भ्रम मात्र है। अथर्ववेद के मन्त्रों का वास्तविक अभिप्राय न समझने के कारण ऐसा है। यदि ऐसा होता तो, वेदों का महाविद्वान् रावण अथर्ववेद के मन्त्रों से ही सीताजी को अपने प्रति अनुरक्त कर लेता तथा दूर बैठे ही रामचन्द्र, लक्ष्मण तथा उनकी सेना का विनाश कर देता। यदि झाड़-फूँक तथा ताबीज बाँधने से ही रोग दूर होने लगें, तो आज अस्पतालों में भी यह पद्धति अपनायी जाती, किन्तु ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में लेखक की पुस्तक 'क्या अथर्ववेद में जादू-टोना है' पठनीय है।

दूसरी भ्रान्ति—क्या अथर्ववेद परवर्त्ती है?

अथर्ववेद के विषय में दूसरी भ्रान्ति है कि इसे अन्य वेदों की अपेक्षा बाद में बना हुआ माना जाता है। इसमें हेतु दिया जाता है कि प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों पर त्रयी शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा मनु जी कहते हैं—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृगयजुःसामलक्षणम्॥

—मनु० ९।२३

इतना ही नहीं अपितु यजुर्वेद के एक मन्त्र भी तीन वेदों का ही नाम आया है।[2] इसका समाधान यह है कि प्राचीन वाङ्मय में जहाँ भी त्रयी का प्रयोग किया गया है वह ज्ञान-कर्म-उपासना इन तीनों विद्याओं की दृष्टि से है, न कि वेदों की संख्या की दृष्टि से। मीमांसादर्शन में कहा गया है कि छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् कहते हैं, गानयुक्त मन्त्रों को साम तथा

१. हिन्दी विश्वकोश, पृ० ९६।
२. यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।(यजु० ३४।६)

शेष गद्य भाग को यजु: कहते हैं।[१] वेदों को त्रयी कहने का यही अभिप्राय: है। इतना ही नहीं, अपितु प्राचीन साहित्य में स्पष्ट रूप में नाम लेकर अथर्ववेद को प्राचीन ही माना गया है। यथा—शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—एवं वाऽरेऽस्य भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद:, सामवेदोऽथर्ववेद:। यजुर्वेद ३१।७ तथा अथर्ववेद १९।६।१३ में निम्न मन्त्र समान रूप में उपलब्ध होता है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋच: सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यहाँ छन्द के द्वारा अथर्ववेद ही अभिप्रेत है, क्योंकि शेष तीनों वेदों के नाम तो पृथक्-पृथक् पठित हैं ही। इस प्रकार यही मानना उचित है कि चारों वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आदि में एक साथ ही हुआ था। कोई भी वेद परवर्ती नहीं है।

अथर्ववेद के विषय

ब्रह्मविज्ञान—पाश्चात्य विद्वान्—ब्लूम फील्ड[२] का कथन है कि अथर्ववेद में आध्यात्मिक सूक्तों का सबसे बड़ा संग्रह है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। यथा—इसके दशम काण्ड के सूक्त ३२ में स्कम्भ नाम से ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसी स्कम्भ (ब्रह्म) से ऋग्वेद तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए। साम के मन्त्र इसके लोम के तुल्य हैं तथा अथर्ववेद मुख के तुल्य है। इसी सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी साक्षात् ब्रह्म का नाम लिया गया है। मन्त्र ३२ में कहा है कि समस्त भूमि उस ब्रह्म के पग तुल्य है। अन्तरिक्ष उदर के समान है तथा द्युलोक जिसका सिर है। उस ब्रह्म को प्रणाम हो।[३] इसी प्रसंग में कई मन्त्रों का अन्तिम चरण 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:' ही है।

यह ब्रह्म कहाँ रहता है, इसका वर्णन भी दशम काण्ड के द्वितीय सूक्त में किया गया है। वहाँ पर पूछा गया है कि यह शरीर आठ चक्रों तथा नवद्वारों वाली देवताओं की नगरी है जो अयोध्या अर्थात् पराजित न होने वाली है।[४] इसी शरीर में ज्योति से घिरा हुआ स्वर्ण सदृश चमकीला देवकोश प्रतिष्ठित है। तीन अरों वाले तथा तीन बन्धनों द्वारा स्थित इसी कोश में यक्ष=पूज्य ब्रह्म, बैठा है जिसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

१. तेषामृक् यत्रार्थवशात् पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या शेषे यजु: शब्द:।
(मीमांसा दर्शन २।१।३२-३४)
२. Hymns of the Atharraveda, n. Bloom Field (S.B.E., Vol 42, P. 66, Introduction)
३. यस्य भूमि: प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:॥ (अथर्व० १०।७।३२)
४. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत:॥ (अथर्व० १०।२।३१)

तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

—अथर्व० १०।२।३२

इस शरीर को ब्रह्म की नगरी जानने का फल बतलाते हुए कहा गया है कि जो इसे भली-भाँति जान लेता है, उसे वृद्धावस्था से पूर्व उसकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा प्राण नहीं छोड़ते—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

—अथर्व० १०।२।३०

इस प्रकार अथर्ववेद में विस्तार से ब्रह्म का वर्णन प्राप्त होता है। दशम काण्ड के सूक्त आठ का ही चवालीसवाँ मन्त्र विस्तार से ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसको जानने का फल बतलाते हुए कहता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अर्थात् वह ब्रह्म पूर्णतः कामनारहित है। धीर एवं मृत्युरहित है। स्वयं सत्तावान् है, वह अन्य किसी के आश्रय से नहीं रहता। वह किसी भी दृष्टि से न्यूनताओं से युक्त नहीं है। उस अजर-अमर नित्य युवा ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु के भय से मुक्त हुआ जा सकता है, अथवा नहीं। ऐसे ब्रह्म को जो नहीं जानता उसके विषय में वेद कहता है—**'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** (अथर्व० ९।१०।१८)। अर्थात् जो व्यक्ति उस ब्रह्म को नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि पढ़ कर भी क्या करेगा? अर्थात् उसका वेद पढ़ना भी व्यर्थ है। क्योंकि वेद उसी ब्रह्म के प्रतिपादक हैं।

आत्मा की शक्तियाँ—अथर्ववेद में आत्मा के स्वरूप पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए वेद कहता है—

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः।
असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा॥

—अथर्व० १६।३।५-६

अर्थात् मेरा आत्मा बृहस्पति सदृश है। मेरा हृदय सन्तापरहित है। मेरा गमनमार्ग अति विस्तृत है। मेरे अन्दर विविध प्रकार के गुण विद्यमान हैं, जिनसे मैं समुद्र के समान गहन बन गया हूँ।

द्वितीय काण्ड के ग्यारवें सूक्त में भी जीवात्मा की नाना शक्तियों का वर्णन अथर्ववेद में किया गया है। जिनमें से एक मन्त्र इस प्रकार है—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

—अथर्व० २।११।५

वेद उद्बोधन देता हुआ कहता है कि हे जीवात्मा! तू शुक्र-शुद्ध स्वरूप तथा शुक्र=आशुकर-शीघ्र कार्य करने वाला है। तू भ्राज=दीप्ति स्वरूप है। स्व:=सुख स्वरूप है अथवा आदित्य के समान स्वप्रकाशमान है। तू ज्योति है तू श्रेष्ठता को प्राप्त कर तथा अपने समान व्यक्तियों का अतिक्रमण करके आगे बढ़। जो व्यक्ति अपने आपको दीन-हीन शक्तिरहित तता अभाग्यशाली समझते हैं, उनके लिए यह सूक्त एक औषध का काम करेगा।

मन का स्वरूप एवं शक्तियाँ

अथर्ववेद में मन की शक्ति का विस्तार से वर्णन है। यहाँ पर इसे आकूति कहा गया है, जो देवी=दिव्यता से युक्त है। सुभगा=उत्तम ऐश्वर्य देने वाली है। वेद कहता है कि यह शक्ति मेरे मन में छिपी हुयी है। मैं इस शक्ति को पहचानूँ। मन्त्र इस प्रकार है—

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥

—अथर्व० १९।४।२

वस्तुतः मन में अद्भुत शक्ति छिपी हुयी है। इस पर नियन्त्रण करके मनुष्य महान् से महान् कार्य कर सकता है। दृढ़ संकल्प न होने से वह कुछ भी नहीं कर सकता। उसे पग-पग पर असफलता का सामना करना पड़ता है। कहा भी है—मन के हारे हार हैं, मन के जीते जीत। इस आकूति देवी पर मेरा इतना अधिकार होना चाहिए कि यह मेरे लिए सुहवा-सुगमता से बुलाने योग्य हो जाए। मैं जब चाहूँ, अपनी इस शक्ति को जगाकर अभीष्ट कार्य कर सकूँ। मैं जिस किसी दिशा में भी जाऊँ यदि यह अकेली संकल्प शक्ति मेरे साथ रहे, तो मुझे विजय ही प्राप्त होगी।

अथर्ववेद में कहा गया है कि इसी मन के द्वारा व्यक्ति नाना प्रकार के क्रूर कर्म करता है। इसके विपरीत मन के द्वारा ही वह शान्ति को भी प्राप्त करता है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि मन को परमेष्ठी बना दिया जाए। परमब्रह्म में स्थित कर दिया जाए। ब्रह्म से संयुक्त कर दिया जाए। यथा—

इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥

—अथर्व० १९।९।४

मन के द्वारा पाप पर विजय पाना

मन में शुभाशुभ विचार आते रहते हैं। मन का स्वभाव विषयों की ओर भागना है। इनके अधीन होकर वह पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। पाप का प्रवेश पहले मन में ही होता है, तभी कर्मेन्द्रियाँ उस कार्य को

करने में प्रवृत्त होती हैं। अथर्ववेद में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ इस स्थिति का चिन्तन किया गया है। वहाँ पर पाप को ललकार कर कहा गया है—हे मेरे मन के पाप? तुम दूर हो जाओ। मेरे से दूर भाग जाओ मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करता हूँ।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। —अथर्व० ६।४५।१

सूक्त ६ में भी पाप को ललकारते हुए कहा गया है—'अव मा पाप्मन् सृज।' (अथर्व० ६।२६।१) हे पाप! तुम मुझे छोड़ दो। इस प्रकार मन को निष्पाप बनाने का सशक्त यत्न यहाँ पर किया गया है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति इच्छा करते हुए भी पापकर्म से नहीं हटता, क्योंकि पाप ने उस पर अधिकार कर लिया है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति का सहारा लेते हुए कहता है—

यदि पाप्मन् नो जहासि तमु त्वा जहीमो वयम्।

हे पाप! यदि तुम हमें नहीं छोड़ते हो, तो हम तुम्हें छोड़ते हैं। पाप के प्रति युद्ध का कितना अचूक उपाय है। मन की इस पापवृत्ति को दूर करके मन को दान देने के लिए प्रेरित करने की प्रार्थना भी परमेश्वर से की गयी है—'मनो दानाय चोदयन्' (अथर्व० २०।५८।२)। यदि मन में कोई कमजोरी, हीन भावना है, तो उसे दूर करके मन को सबल बनाया जा सकता है। वेद कहता है—'एवा ते राध्यं मनः' (अथर्व० २०।६०।१) अर्थात् इस प्रकार तेरा मन समर्थ बन जाए। सबल मन ही पाप से लड़ने का, उसे छोड़ने का व्रत ले सकता है तथा विजय प्राप्त कर सकता है। मन को सबल बनाना विचारों पर निर्भर करता है। इस प्रकार मन को समर्थ बनाकर, विचारों द्वारा उसमें शक्ति का संचार करके व्यक्ति कहता है कि अपनी अकूति=संकल्प शक्ति के बढ़ने पर मैं दुर्व्यवहार करने के इच्छुक समस्त व्यक्तियों को मार भगाता हूँ। मेरी संकल्प शक्ति वृद्धि को प्राप्त करे—

सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम्॥
—अथर्व० ४।३६।४

मन के अन्य भाव

मन में अनेक प्रकार के शुभाशुभ भाव सन्निहित रहते हैं। वेद हमें अपने मन से अशुभ भावों या विचारों को दूर भगाने तथा शुभविचारों को मन में बसाने की प्रेरणा देता है। अथर्ववेद में क्रोध, ईर्ष्या, अराति आदि भावों का चित्रण प्रस्तुत करते हुए उनको मार भगाने की प्रार्थना की गयी है। यथा—

(१) अराति—अथर्ववेद पञ्चम काण्ड का सम्पूर्ण सप्तम सूक्त अराति की चर्चा करता है। अराति का अर्थ अदानशीलता है। यहाँ पर

'नमो अस्त्वरातये' कहकर अराति के लिए नमः=वज्र प्रहार की घोषणा की गयी है। अथर्ववेद तो **'शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर'** (अथर्व० ३।२।२४) कहकर कमाए गए धन को हजारों रूपों में व्यय करने की प्रेरणा देता है। अराति भावना इसकी विरोधिनी है। दान भावना से रहित व्यक्ति धन कमाता तो है, किन्तु उसे सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में, यहाँ तक कि अपने ऊपर भी खर्च नहीं करता। यही अराति भाव है। वेद में इसे नष्ट करने का उपदेश है।

(२) ईर्ष्या—ईर्ष्या भी मन की ऐसी ही कुत्सित वृत्ति है, जो शरीर एवं आत्मा दोनों का नाश करती है। अथर्ववेद में अत्यन्त विशद् रूप में ईर्ष्या से होने वाले दोषों की चर्चा करते हुए ईर्ष्या को मन से उखाड़ फेंकने का उपदेश दिया गया है। यहाँ पर ईर्ष्या को ऐसी अग्नि कहा है जो कि हृदय में उत्पन्न होती है, वहीं जलती रहती है तथा हृदय को ही जलाकर शोक रूप धुएँ को उत्पन्न करती रहती है। मन्त्र में ईर्ष्या के दो वेग बतलाये गये हैं। प्रथम—जब कि हम किसी के प्रति ईर्ष्या के भाव मन में भरते हैं। किसी भी प्राणी या पदार्थ से ईर्ष्या होने पर हम उसे नष्ट करना चाहते हैं या उसका अपकार करना चाहते हैं किन्तु जब ऐसा नहीं कर पाते, तब ईर्ष्या का दूसरा वेग मन पर सवार होता है। इस अवधि में मन अपनी असफलता के कारण शोकग्रस्त हो जाता है। मन्त्र में इसे इस प्रकार कहा है—

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि॥

—अथर्व० ६।१८।१

इस शोक के कारण व्यक्ति का मन बिल्कुल मृतवत् शक्तिहीन हो जाता है। वेद ऐसे मन की भूमि से उपमा देते हुए कहता है कि जिस प्रकार भूमि मरे हुए मन वाली है। अर्थात् इस पर हम कितना भी कूड़ा-कचरा फेंकते रहें, कितना भी इस पर प्रहार करते रहें, किन्तु भूमि को इसका कोई अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार ईर्ष्यालु व्यक्ति का मन भी सर्वथा मर जाता है। वह भला-बुरा कुछ भी नहीं सोच सकता। यथा—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥

—अथर्व० ६।१८।२

(३) मन तथा दुःस्वप्न—अथर्ववेद में दुःस्वप्न तथा इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मन ही इनका कारण है। सुकर्मा लोग दुःस्वप्न को प्राप्त न करके पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं। यह दशा योगियों तथा आध्यात्मिक पुरुषों की होती है। इसके विपरीत दुष्कर्मा व्यक्ति स्वप्न की क्रूरता के भागी होते हैं। सांसारिक भोगों से संतप्त व्यक्ति ही दुःस्वप्न का शिकार बनते हैं—

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः।
स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे॥

—अथर्व० १९।५६।५

सोलहवें काण्ड का पञ्चम सूक्त पूरा स्वप्न विषयक ही है। यहाँ पर दुःस्वप्न की उत्पत्ति के कारण इस प्रकार कहे हैं—

(१) ग्राही—भयानक रोग या शोक भय आदि जो शरीर तथा मन को पकड़ लेते हैं।

(२) निर्ऋति—अवनति, क्षीणता तथा निर्बलता।

(३) अभूति—अर्थात् ऐश्वर्यहीनता।

(४) निर्भूति—अर्थात् महासंकट में पड़ना।

(५) पराभूति—पराधीन या पराभव होना।

(६) देवजामि—देवरूपी इन्द्रियों की शक्ति न्यून होना।

द्वितीय तथा नवम मन्त्र में दुःस्वप्न को मृत्यु तथा अन्तक कहा है।

दुःस्वप्न से बचने का उपाय—वेद कहता है कि यह दुःस्वप्न पाप है इस दुःस्वप्न तथा इससे पैदा होने वाली अभूति=(सम्पत्ति का विनाश) से बचने के लिए ब्रह्म=वेद, ज्ञान, परमात्मा का आश्रय लेना चाहिए। इससे स्वरूप से प्राप्त होने वाले शोक-सन्ताप मुझसे दूर हो जायेंगे—

पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥

—अथर्व० ७।१००।१

वेद ने यहाँ पर एक गम्भीर बात कही है। वस्तुतः रोग, शोक, पराभव, अवनति आदि के कारण ही दुःस्वप्न आते हैं। ये सभी दुष्कर्मों के परिणाम हैं। इनसे बचने के लिए दुष्कर्मों को छोड़ना होगा। दुष्कर्म निवृत्ति के लिए सबसे अमोघ उपाय ब्रह्म=वेद का स्वाध्याय या ब्रह्म=परमात्मा की भक्ति है। जो भी दुष्कर्मा व्यक्ति श्रद्धापूर्वक परमात्मा की उपासना करेगा तथा वेद का स्वाध्याय करेगा, उसका मन धीरे-धीरे स्वतः ही दुष्कर्मों से हट जायेगा। परिणामतः दुःस्वप्न भी नहीं आयेंगे। योगी तथा आध्यात्मिक व्यक्तियों का जीवन शान्त एवं पवित्र होता है। वे सुषुप्ति में—प्रगाढ निद्रा में सोते हैं। इसीलिए उन्हें दुःस्वप्न नहीं आते।

ऋत, सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, श्रम, दीक्षा, यज्ञ तथा तपस्या

अथर्ववेद में इन तत्त्वों पर पर्याप्त बल दिया गया है। कहीं पर इनको राष्ट्र के धारक तत्त्वों के रूप में परिगणित किया गया है[1], तो कहीं पर व्यक्तिगत जीवन में इनकी आवश्यकता पर बल दिया गया है। ऋत् एवं सत्य तो ऐसा व्यापक तत्त्व है, जो न केवल अथर्ववेद में अपितु अन्य वेदों

१. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्व० १२।१।१)

में भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।[१] अथर्ववेद में एक प्रश्न पूछा गया है कि तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा तथा सत्य कहाँ पर स्थित है।[२] स्वयं ही वहाँ पर उत्तर दिया गया है कि ये सब ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। वहाँ पर कामना की गयी है कि मैं भी ऋत के द्वारा रक्षित होकर (ऋतेन गुप्तः) रहूँ, जिससे मुझे पाप की प्राप्ति न हो तथा मेरी मृत्यु भी दूर रहे—

मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः। —अथर्व० १।७१।२९

मन्त्र का भाव यही है कि ऋत अर्थात् सृष्टि नियम पर चलते हुए उसके अनुसार जीवन-यापन करते हुए व्यक्ति को पाप नहीं लगता। वह पापी तभी बनता है, जब ईश्वरीय एवं प्राकृतिक नियमों का उलङ्घन करता है। सुकर्मा लोग सदा ऋत् के अनुसार ही जीवन व्यतीत करते हैं, जब कि दुष्कर्मा व्यक्ति स्वेच्छाचारी होकर दुःख उठाते हैं। इसीलिए कहा है कि—

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। —ऋ० ६।७३।६

अर्थात् दुष्कर्मा व्यक्ति इस ऋतमार्ग पर नहीं चलते हैं।

सत्य—सत्य पर अथर्ववेद में पर्याप्त बल दिया गया है। 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' अर्थात् यह भूमि, यह संसार सत्य पर ही टिका है, सत्य के सहारे ही चल रहा है। जहाँ कहीं असत्य है वह भी सत्य का चोगा पहनकर ही दूसरों को ठग रहा है। सत्य का अर्थ है—सत्सु तायते। अर्थात् जो सज्जनों में वृद्धि को प्राप्त करता है। सज्जन उसी सत्य की रक्षा करते हैं। दुर्जन तो सत्य की हत्या करते हैं। सत्य एवं असत्य के द्वन्द्व को अथर्व० ८।४।१२ में इस प्रकार दिखलाया है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

अर्थात् ज्ञान के इच्छुक व्यक्ति के सामने सत्य तथा असत्य दोनों ही मानो स्पर्धा करते हुए आते हैं। उनमें से वह सत्य की ही रक्षा करता है क्योंकि सत्य ही सरल है। असत्य का रास्ता सचमुच टेढा है। अतः वह उसे छोड़ देता है। वेद में अन्यत्र भी कहा गया है—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। —ऋ० ९।७३।१

अर्थात् सत्य की नौका ही सुकर्मा व्यक्ति को इस संसार-सागर से पार लगाती है। वेद तो यह भी कहता है कि यह वेदवाणी भी स्वयं सत्य से आच्छादित है, यश से घिरी हुई है तथा श्री से भली-भाँति ढकी हुई है—

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता। —अथर्व० १२।५।२

१. सत्येनोत्तभिता भूमिः। (ऋ० १०।८५।१)
२. कस्मिन्नङ्गे तपोऽस्याधितिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥
(अथर्व० १०।७।१

तप-दीक्षा एवं ब्रह्मचर्य—अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का पञ्चम सूक्त ब्रह्मचर्य की महिमा से ओत-प्रोत है। ब्रह्मचारी दीक्षा-तप तथा श्रम से युक्त है। वह अपने श्रम तथा तपस्या से इन लोकों की पालना तथा प्रपूरणा करता है। 'श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति' (अथर्व० ११।५।४)। यहाँ पर ब्रह्मचारी के माध्यम से यही कहा गया है कि इन लोकों का पालन, इनकी उन्नति श्रम तथा तपस्या के द्वारा ही सम्भव है। आलस्य एवं प्रमाद के द्वारा नहीं। किसी भी राष्ट्र या समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में श्रम तथा तप करने ही पड़ेंगे। अथर्ववेद में इसीलिए राजा को भी ब्रह्मचारी कहा गया है। क्योंकि वह स्वयं श्रम तथा तपस्या से युक्त है। आलसी तथा अतपस्वी, विलासी व्यक्ति राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। इतिहास प्रमाण है कि पृथिवीराज तथा अनेक मुगल बादशाह विलासी होने के कारण ही अपने सुदृढ राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सके। राष्ट्र की रक्षा के लिए तो चाणक्य के समान तपस्वी एवं श्रमवान् होना ही पड़ेगा।

न केवल राष्ट्र की रक्षा, अपितु ब्रह्मचर्य तथा तप के द्वारा तो मृत्यु को भी जीता जा सकता है, यह वेद कहता है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।—अथर्व० ११।५।१९

मृत्यु सबकी ही अवश्यंभावी है किन्तु तप एवं ब्रह्मचर्य से उसे रोका जा सकता है। जब तक चाहें, तब तक दूर रखा जा सकता है। भीष्म पितामह विशुद्ध ब्रह्मचारी थे। अतः उन्होंने मृत्यु भी अपनी इच्छानुसार ही प्राप्त की। यही है—मृत्यु को जीतना।

अथर्ववेद तप के समान दीक्षा पर भी बहुत बल देता है। दीक्षा का अर्थ है किसी भी कार्य के लिए सर्वात्मना समर्पण। अन्य कोई कार्य उस समय न रहे। यज्ञ में भी दीक्षित व्यक्ति यही करता है। गुरुकुल में ब्रह्मचारी दीक्षा को प्राप्त करके अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं करता। यही समर्पण भाव सिद्धि का सोपान है। अथर्ववेद में तो कहा है कि ऋषियों ने सर्वप्रथम तप तथा दीक्षा का ही आश्रय लिया, इससे राष्ट्र में बल तथा ओज का संचार हुआ तथा सभी राष्ट्र के आगे नतमस्तक हो गये—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
—अथर्व० १९।४१।१

अथर्ववेद के सम्पूर्ण ४३वें सूक्त में अग्नि, वायु आदि देवों से प्रार्थना की गयी है कि ब्रह्मवेत्ता लोग दीक्षा तथा तपस्या के द्वारा जिन लोकों को प्राप्त करते हैं, मुझे भी उन लोकों में ले चलो। इसका यही भाव है कि दीक्षा तथा तपस्या के द्वारा ही इस लोक को उत्तम बनाया जा सकता है।

ऋत का रक्षक वरुण—अथर्ववेद में ऋत के रक्षक के रूप में वरुण की स्थापना की गयी है। यह एक सर्वव्यापक शक्ति है, जिसके

नियन्त्रण में यह सम्पूर्ण संसार चल रहा है। ऋत् एवं सत्य इसी के अन्तर्गत अपना कार्य कर रहे हैं। वह समस्त संसार का अधिष्ठाता है तथा सबको बहुत पास से देख रहा है—'बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।' (अथर्व० ४।१६।१) जो चल रहा है, जो बैठा है, जो दूसरों को ठग रहा है। इन सबको वरुण देख रहा है। (अथर्व० ४।१६।२) इसकी निगाह से कुछ भी बचा हुआ नहीं है। यहाँ तक कि इसने तो जीवों के पलक झपकने तक को गिन रखा है—

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्॥ —अथर्व० ४।१६।५

यह वरुण ईसाइयों के ईश्वर अथवा उसके दूत ईसा की तरह नहीं है जो कि लोगों के पाप लेकर सूली पर चढ़ गया। संसार को पापमार्ग में प्रवृत्त करने का यह एक लोभनीय मार्ग है। जब हमें विश्वास है कि ईसा हमारे पाप लेकर सूली पर चढ़ जायेगा, तो हम पाप से क्यों डरेंगे। हम और भी अधिक पाप करेंगे, क्योंकि उनका फल तो मिलेगा ही नहीं।

अथर्ववेद का वरुण पापी तथा दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड देता है। इन्हें बाँधने के लिए वह अपने हाथ में पाश लिए हुए है। ये पाश सैकड़ों प्रकार के हैं—

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
—अथर्व० ४।१६।७

नृचक्षः—हे नर-नारियों पर दृष्टि रखने वाले वरुण! असत्यभाषी तुम्हारे इन पाशों से छूटने न पाएँ। अनृत बोलने वाले को, ऋत के विरुद्ध आचरण करने वाले को तुम्हारे पाश नष्ट कर दें तथा सत्यवादी को छोड़ दें—

छिन्नन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।
—अथर्व० ४।१६।६

इस प्रकार अथर्ववेद में वरुण का यही स्वरूप चित्रित है कि वह दुष्ट तथा असत्यवादी व्यक्ति को अपने पाशों में जकड़ लेता है। इसके विपरीत सुकर्मा सत्यवादी इनसे मुक्त रहता है। यही मार्ग श्रेष्ठ एवं वास्तविक है। संसार की स्थिति इसी मार्ग से सम्भव है। दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड दिए बिना छोड़ देने से तो एक छोटे से राज्य का शासन भी नहीं चल सकता फिर सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालन तो कैसे हो सकता है। इसलिए इस नियामक शक्ति के आगे सिर झुकाना ठीक ही है।

वरुण की न्यायव्यवस्था—संसार की तथा वरुण की न्यायव्यवस्था में एक अन्तर यह भी है कि लोक में अपराधी के लिए दण्ड विधान करने वाला न्यायाधीश होता है, जबकि वह अन्य साक्षियों के आधार पर अपना निर्णय करता है। न्यायाधीश के दण्ड का पालन कार्यपालिका द्वारा कराया जाता है। न्यायाधीश दूसरे व्यक्तियों के द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के

आधार पर दण्ड का विधान मात्र करता है। इस प्रकार दण्ड-प्रक्रिया में अनेक दोष भी रह जाते हैं। उचित साक्षी के अभाव में भयंकर अपराधी भी छूट जाते हैं। वरुण की न्याय-व्यवस्था में यह दोष नहीं है। वह स्वयं ही सभी प्राणियों के सभी कर्मों का साक्षी है। स्वयं ही दण्ड विधान करने वाला है तथा स्वयं ही उस दण्ड को क्रियान्वित भी करता है। इस प्रकार वरुण की न्याय-व्यवस्था में कोई भूल हो ही नहीं सकती।

प्राण की महिमा—अथर्ववेद में प्राण की महिमा का विस्तार से वर्णन है। यहाँ पर ग्यारहवें काण्ड का सम्पूर्ण चतुर्थ सूक्त प्राण की महिमा का ही प्रतिपादक है। समस्त संसार प्राण के ही वश में है—'यस्य सर्वमिदं वशे।' नवम मन्त्र में प्राण को भेषज कहा गया है—

अतो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।

हे प्राण! तुम्हारा जो ओषध स्वरूप है, उसे हमें दीर्घ जीवन के लिए प्राप्त कराओ। यहाँ पर प्राण चिकित्सा का संकेत उपलब्ध होता है। इसी प्रकार चतुर्थ काण्ड के सूक्त १३ में भी अन्दर लेने वाले प्राण को ओषध स्वरूप मानकर बाहर जाते हुए प्राण को रोगनाशक कहते हुए प्राण को विश्वभेषज माना है—

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥

—अथर्व० ४।१३।३

यह प्राण देव अर्थात् दिव्यशक्तियों, दिव्यविचारों का दूत है। उन्हें प्राप्त कराने वाला है। इसी सूक्त का द्वितीय मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः॥

अर्थात् अन्दर तथा बाहर आने-जाने वाले दोनों प्राणों में से एक तो हमारे शरीर में दक्षता का संचार करता है तथा दूसरा हमारे रोगों को बाहर कर देता है। इतना ही नहीं अपितु एक मन्त्र में तो प्राण तथा अपान को मृत्यु को भी दूर रखने वाला कहा गया है—

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातम्। —अथर्व० २।१६।१

इस प्रकार प्राण पर विजय प्राप्त करके हम न केवल रोगों को भगाकर दक्षता एवं स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं, अपितु मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। मनु ने भी स्पष्ट रूप में कहा है कि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष उसी प्रकार दूर हो जाते हैं, यथा सुनार की धौंकनी से सुवर्ण का मैल जल जाता है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

मनुष्य की पूर्ण आयु—अथर्ववेद में मनुष्य की न्यूनतम आयु सौ वर्ष मानते हुए कहा है कि यह परिधि है, इसे लाँघकर कोई भी सौ वर्ष

से पूर्व न मरे—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥

—अथर्व० १२।२।२३

अर्थात् हम दृढ़ संकल्प से मृत्यु को भी दूर भगा दें।

मृत्यु को भी ललकार—इतना ही नहीं अपितु मृत्यु को भी ललकारते हुए अथर्ववेद का ऋषि कहता है—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।

—अथर्व० १२।२।२१

हे मृत्यु! मैं देवयान पथ का पथिक हूँ। इसलिए तुम मेरे से दूर भाग जाओ। यहाँ पर यह कहा गया है कि देवयान अर्थात् देवों के मार्ग पर चलकर ही मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है। यह अखण्ड ब्रह्मचर्य एवं तपस्या का मार्ग है, जिसे अन्यत्र, 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' के रूप में कहा गया है। पितृयान अर्थात् लौकिक मार्ग में चलते हुए तो मृत्यु के अधीन होना ही पड़ेगा।

हम वृद्धावस्था तक पूर्ण स्वस्थ रहें—अथर्ववेद के अनुसार पितृयान पथ के पथिक को भी वृद्धावस्था से पूर्व नहीं मरना चाहिए। यही मनुष्य की पूर्ण आयु है।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना.........सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥

—अथर्व० १२।२।२४

अथर्ववेद कहता है कि वृद्धावस्था तक मेरी वाणी, नासिका, नेत्र, कान, बाहु, पैर आदि सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ रहें। मेरी भुजाओं में बल रहे तथा पैरों में गति रहे इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ शक्तिशाली रहें।[१] हम सौ वर्ष तक न केवल जीवित रहें, अपितु वृद्धि करते रहें तथा बुद्धि से स्वस्थ रहें।[२]

अथर्ववेद में यज्ञ का स्वरूप—अथर्व० १२।१।१ में यज्ञ की गणना पृथिवी के धारक तत्त्वों में की गयी है। नवम काण्ड में यज्ञ को समस्त भुवन का आधार बतलाते हुए वेद कहता है—'अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।' (अथर्व० ९।१०।१४)। अर्थात् यह यज्ञ ही समस्त संसार की नाभि है। यहाँ पर नाभि का अर्थ आधार ही है। शरीर को देखने से यह स्पष्ट हो जायेगा। मानव शरीर का आधार उसकी नाभि ही है। नाभि शरीर के ठीक बीच में है। इतना ही शरीर इसके ऊपर है तथा इतना ही नीचे। यह सम्पूर्ण शरीर का आधार है। यदि नाभि विकृत हो जाए तो शरीर रोगी हो जाता है। लोक भाषा में इसे 'धरण डिगना' कहते हैं। नाभि

१. अथर्व० १९।६०।१-२
२. अथर्व० १९।६७।१-८

उदर में स्थित है। जो भी हम उदर में डालते हैं वह हमारी नाभि=केन्द्रबिन्दु में पहुँचकर समस्त शरीर में वितरित हो जाता है। यही यज्ञीय स्वरूप है कि जो वस्तु यज्ञ में डाली जाए वहाँ भस्म होकर उसका सभी के लिए वितरण हो जाए। यह समष्टि भावना है। संसार इसी भावना पर तो आधारित है। व्यष्टि से समष्टि, एकता से अनेकता तथा संकोच से विकास को प्राप्त करना ही यज्ञीय भावना है। इसीलिए वेद में नाभि की उपमा यज्ञ से दी गयी है, क्योंकि दोनों में समान धर्म है। नाभि शरीर का आधार है तो यज्ञ विश्व का आधार है।

यज्ञ के लाभ—अथर्ववेद स्पष्टतः यज्ञ के लाभ को बतला देता है। यज्ञ के द्वारा यज्ञ कुण्ड में किया जाने वाला यज्ञ तथा समष्टि यज्ञ दोनों ही अभिप्रत हैं। वेद उद्बोधन देते हुए कहता है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

—अथर्व० ३।६३।१

यहाँ पर सबसे मुख्य बात है देवों को यज्ञ से जगाना। जो हमारे दिव्यभाव, दिव्यशक्तियाँ हमारे शरीर में सोये पड़े हैं, उन्हें यज्ञीय भावना द्वारा ही जगाया जा सकता है। स्वार्थ की भावना से तो राक्षसी वृतियाँ जगेंगी। यज्ञीय भावना से देवत्व की वृत्तियाँ जगती हैं। इसीलिए यज्ञ में 'इदन्न मम' (यह मेरा नहीं है), यह बोला जाता है। जो कार्य मैं कर रहा हूँ, इस पर मेरा अकेले का अधिकार नहीं है, यह सबके लिए है। यह देवत्व का भाव है जिसे यज्ञ के द्वारा जगाया जाता है। यज्ञ के अन्य भौतिक लाभ ये हैं कि यज्ञ से प्राण बलवान् बनते हैं, फलतः आयु दीर्घ होती है। स्वस्थ पुरुष ही प्रजा पशु आदि को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यज्ञ ही इन सब वस्तुओं की प्राप्ति का आधार है। सूक्त ६४ में भी अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे जातवेद अग्नि! तुम हमें प्रजा तथा धन से बढ़ाओ—

तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च। —अथर्व० १९।६४।२

इसी सूक्त के मन्त्र ४ में यज्ञाग्नि को आयु प्रदान करने वाला कहा गया है—

आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय। —अथर्व० १९।६४।४

द्वितीय काण्ड में भी अग्नि को आयु प्रदान करने वाला कहा गया है—'आयुर्दाअग्ने.......' (अथर्व० २।१३।१) इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार यज्ञ का आयु से अटूट सम्बन्ध है। यज्ञ से आयु कैसे बढ़ती है, यहाँ परीक्षण का विषय है। सम्भवतः इसके लिए रोगनिवारक तथा स्वास्थ्यप्रद ऐसे पदार्थ यज्ञ में डालने चाहिएँ, जिनसे हमारे प्राण तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ रहें। तभी आयु बढ़ेगी। यज्ञ की हवि से रोग-नाश की बात अथर्ववेद में अन्यत्र भी कही गयी है। यथा—

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥

—अथर्व० ३।११।३

यहाँ पर सहस्राक्ष सैकड़ों प्रकार की शक्ति वाली तथा सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि का वर्णन है। यह हवि कौन-सी है, गवेषणीय है।

उत्साह एवं उन्नति की भावना—मनुष्य का मन पतनशील है। वह उन्नति की ओर भी चलता है तथा अवनति की ओर भी भागने लगता है। अवनति की ओर जाते हुए व्यक्ति को सावधान करता हुआ वेद कहता है—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥

—अथर्व० ८।१।६

हे पुरुष! तेरा लक्ष्य ऊपर की ओर जाना उन्नति करना है, अवनति करना नहीं। वेद ने यहाँ पुरुष कहकर सम्बोधन किया है। इसका अर्थ है कि तू पौरुष शक्ति से युक्त है। कापुरुष=कायर नहीं है। अतः उन्नति कर, अवनति में मत गिर। उन्नति करने के लिए ही तुझे यह शरीररूपी अमृतमय रथ दिया है। तू इस पर वृद्धावस्था तक सवार रह।

हे मनुष्य! यदि तेरे जीवन में अज्ञान प्रवेश कर गया है, तो तू उस तमस्-अज्ञानान्धकार को छोड़कर ज्ञान-ज्योति की ओर अग्रसर हो। यदि तेरे अन्दर उन्नति करने की, ज्ञानमार्ग पर चलने की सामर्थ्य नहीं रही है, तो आओ, हम तुम्हारे हाथों को वेगयुक्त करते हैं—

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे। —अथर्व० ८।१।८

अपनी इस दुर्दशा को छोड़ने के लिए तुम्हें उद्यम करना पड़ेगा तभी सिद्धि मिलेगी। कर्त्तव्यविमुख होकर बैठने से कुछ नहीं मिलेगा। इसीलिए वेद कहता है—'**माऽत्र तिष्ठ पराङ्मना**' (अथर्व० ८।१।९) हे मनुष्य! तू कर्त्तव्य से विमुख होकर मत बैठ। वेद के इन वचनों से कमजोर शक्तिहीन व्यक्ति के शरीर में भी नयी चेतना जग जाती है, जिससे वह पुरुषार्थी बनकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समृद्ध हो जाता है। उत्साह को प्राप्त करके वह कह उठता है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥

—अथर्व० ७।५०।८

अर्थात् मेरे दायें हाथ में कर्म है, तो विजय पाना मेरे बाँयें हाथ का खेल है। मैं अपने प्रतिस्पर्द्धियों को परास्त करके गो-अश्व आदि पशुओं को, धन को तथा हिरण्य आदि को जीत लेता हूँ। भाव यह है कि पूर्ण शक्ति से दक्षतापूर्वक कार्य करने पर विजय पाना कठिन नहीं है।

अधोगति से रक्षा—मनुष्य अज्ञानी है अतः उससे भूल होनी सम्भव है, जिससे उसकी अधोगति हो सकती है। किन्तु वेद कहता है कि यह स्थिति शाश्वत नहीं है। अपराध करने के बाद यदि व्यक्ति सच्चे मन से पश्चाताप करे, तो पुनः उन्नति के मार्ग पर चल सकता है। अथर्ववेद ४।१३।१ में देवों से यही प्रार्थना की गयी है कि हे दिव्यजनों! महात्मा लोगों! तुम अधोगति को प्राप्त पुरुष को भी पुनः नया जीवन प्रदान करो—

उत देवा अवहित देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

जादू, सम्मोहन या मनोविज्ञान

अथर्ववेद के विषय में एक बड़ी भ्रान्ति यह है कि इसमें जादू तथा सम्मोहन आदि का विधान किया गया है। ऐसा कुछ नहीं है। सम्मोहन वस्तुतः है क्या? किसी के मन पर अधिकार करके उससे अभीष्ट कार्य करा लेना ही सम्मोहन है। ऐसे कार्यों का प्रत्यक्षतः कोई कारण दिखलायी नहीं देता इसलिए इन्हें जादू कह दिया जाता है।

मन पर अधिकार करना एक कला है, एक विज्ञान है। इसी का नाम मनोविज्ञान है। सब व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते। सबका तो अपने मन पर भी अधिकार नहीं होता, अन्यों के मन पर अधिकार करने की तो बात ही क्या। कुछ व्यक्तियों में ही ऐसी शक्ति होती है कि वे दूसरों को प्रभावित तथा अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। ये शक्तियाँ कई प्रकार की होती हैं। यथा—शारीरिक गठन, वाणी, विद्वत्ता, सौन्दर्य इत्यादि। ऋषि अष्टावक्र ८ स्थानों से कुबड़े थे फिर भी विद्वत्ता के कारण दूसरे ऋषियों पर प्रभावी थे। स्त्रियों में सौन्दर्य का आकर्षण होता है। बाली के सामने जाते ही उसका शत्रु इतना भयभीत हो जाता था कि मानो वह अपने शत्रु की आधी शक्ति ही हर लेता था।

वाणी में भी जादू या सम्मोहन शक्ति है। राम-लक्ष्मण की जानकारी लेने गये हनुमान जी ने इन दोनों के ऊपर अपने वाक्चातुर्य का अच्छा प्रभाव डाला था। अथर्ववेद में भी इस सम्बन्ध में कुछ मन्त्र हैं जिनके द्वारा राजा, सभाध्यक्ष या कोई भी प्रखर सामाजिक नेता अपने सहयोगियों के ऊपर अपना प्रभाव जमा देता है। यथा—

१. **सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।**
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥

—अथर्व० ६।९४।१

मैं तुम्हारे मन तथा व्रत=कर्मों को तथा संकल्पों को एक समान करता हूँ। तुम लोग जो परस्पर विरोधी कर्मों वाले हो गये हो, उनको परस्पर अनुकूल करता हूँ।

२. **अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।**
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥
—अथर्व० ६।९४।२

मैं अपने मन द्वारा तुम्हारे मनों को पकड़ता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल चले। तुम्हारे हृदयों को मैं अपने वश में करता हूँ। तुम सभी मेरे अनुगामी बनो।

इससे बढ़कर सम्मोहन और क्या होगा। यहाँ वक्ता या सभाध्यक्ष ने सदस्यों के मन, हृदय, चित्त, गति सभी पर तो अधिकार कर लिया है। इसी प्रकार एक सभाध्यक्ष कहता है—

३. **यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा।**
तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥
—अथर्व० ७।१२।४

हे सांसदों! जो तुम्हारा मन यहाँ से दूर चला गया है या व्यर्थ की बातों में उलझा हुआ है, उसे मैं लौटाता हूँ। तुम्हारा मन मेरी ओर आकृष्ट रहे। संसद् में बैठे सांसद या विधानसभा में बैठे विधायक सभापति की बात पर ध्यान न देकर जब व्यर्थ की बातों में उलझे हुए हों, तब एक वर्चस्वी, वाग्मी सभाध्यक्ष की यह घोषणा है। इससे वह सबको अपने प्रति आकृष्ट कर लेता है।

कुछ सभासद् अपने आपको बहुत ज्ञानी, चतुर तथा तेजस्वी दिखलाने की चेष्टा करते हैं तथा सभाध्यक्ष पर हावी होना चाहते हैं तो तेजस्वी सभापति उनसे पराभूत न होते हुए उन्हें ही अपने अनुकूल बनाते हुए कहता है—

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे। —अथर्व० ७।१२।३

अर्थात् यहाँ बैठे हुए सभासदों का तेज तथा विज्ञान मैं लेता हूँ। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि इन सभासदों के महत्त्व को मैं स्वीकार करता हूँ। अथर्ववेद में इसी प्रकार के सम्मोहन का प्रतिपादन किया गया है। यह वस्तुतः मनोविज्ञान है।

सामाजिक व्यवस्था

अथर्ववेद सामाजिक व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश डालता है। समाज तथा परिवार पर प्रायः एक समान ही नियम लागू होते हैं क्योंकि परिवार ही छोटा समाज है तथा समाज ही बड़ा परिवार है। समाज एवं परिवार दोनों के सम्बन्ध में अथर्ववेद में जो निर्देश दिये हुए हैं, उनको पालन करके वे स्वर्ग समान बन सकते हैं। इसके लिए अथर्ववेद का (३।३०) सांमनस्यम् सूक्त द्रष्टव्य है, जहाँ पर परस्पर प्रेम करते हुए द्वेषरहित होने की प्रेरणा दी गयी है। हम परस्पर प्रेमपूर्ण वाणी का प्रयोग करें क्योंकि ५० प्रतिशत झगड़े तो द्वेषपूर्ण तथा कटुवाणी के प्रयोग से ही

होते हैं। सुनने वाले से भी कटुवाणी सहन नहीं होती। परिणामस्वरूप घरों में तथा समाज में महाभारत पनप जाता है। घर में पत्नी का विशेष दायित्व है कि वह पति के लिए ऐसी शान्तियुक्त वाणी का प्रयोग करे, उससे इसे स्वयं अन्य सदस्यों को भी शान्ति मिलेगी। परिवार की आन्तरिक व्यवस्था पत्नी पर निर्भर रहती है। अत: उसे सदैव शान्तिमय वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए। यहीं पर यह भी कहा गया है कि हम सहृदय बनें अर्थात् कोमल हृदय वाले सहनशील बनें। कठोर हृदय जिसे पाषाणहृदय भी कहा जाता है, हम न बनें। हमारे मन में न केवल अपनों के लिए ही, अपितु प्राणीमात्र के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम होना चाहिए, उनके प्रति दया-करुणा होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो मानो हम पाषाणहृदय हैं। जैसा कि कहा भी है—

जा घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की सांस लेत बिन प्राण॥

प्रेम के बिना सचमुच व्यक्ति ऐसा ही है, जैसे कि लुहार की धौंकनी। क्योंकि वह भी वायु को अन्दर लेती तथा छोड़ती है, तथापि निष्प्राण है, इसी प्रकार प्रेम एवं करुणारहित मनुष्य भी ऐसा ही जानना चाहिए। इसी सूक्त में एक अन्य मन्त्र में कुछ ऐसे गुणों का निर्देश किया गया है, जो कि राष्ट्र, समाज तथा परिवार पर समान रूप में लागू होते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्त॒: सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न्व॒: संम॑नसस्कृणोमि॥

—अथर्व० ३।३०।५

यह मन्त्र राष्ट्र, समाज तथा परिवार पर समान रूप में लागू होता है। मन्त्र कहता है—

ज्यायस्वन्तः—हमें ज्यायान् अर्थात् बुजुर्गों से युक्त होना चाहिए क्योंकि वे ही हमें उचित दिशा प्रदान कर सकते हैं।

चित्तिनः—हम अपने कर्त्तव्यों के प्रति सर्वदा जागरुक रहें। कभी भी प्रमादी न हों। हमारी जरा-सी असावधानी से राष्ट्र तथा समाज की हानि हो सकती है। सीमा पर तैनात जवान यदि असावधान हो जायेगा, तो दुश्मन का शिकार बन जायेगा। हमें उसी प्रकार सतत जागरुक रहना होगा, जैसे कि मौर्य साम्राज्य के महामन्त्री आचार्य चाणक्य ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए यत्न पूर्वक बनाये गए महल को केवल इसलिए गिरवा दिया कि महल में से चीटियाँ चावल के कण लेकर बाहर आ रही थीं। चाणक्य ने अनुमान कर लिया कि शत्रुओं ने महल के नीचे सुरंग बिछा कर खाने का समान जमा किया हुआ है। ज्यों ही चन्द्रगुप्त इस महल में प्रवेश करेगा, वे लोग सुरंग में आग लगा कर बाहर भाग जायेंगे। महल को तोड़े जाने पर चाणक्य की आशंका सच निकली। राष्ट्र एवं समाज

की रक्षा के लिए इसी प्रकार की सावधानी की आवश्यकता है।

मा वियौष्टम्—इस मन्त्र में वेद आगे कहता है कि हम कभी भी आपस में विपरीत दिशाओं में न जाएँ। मनोभेद के द्वारा अलग-अलग न हों। यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाए, तो मिलकर प्रेम से उसे सुलझा लें। आज समाज तथा राष्ट्र में अलगाव की यह भावना विस्तर बढ़ती जा रही है। आज एक परिवार के सभी सदस्यों में भी आपस में मन-मुटाव रहता है, जिस कारण परस्पर का कलह तथा हत्याएँ तक होती रहती हैं। समाज तो आज जाति, भाषा आदि के नाम पर बँटा हुआ है ही। इतना ही नहीं, अपितु भारतवर्ष को अपना देश न मानने वाले अलगाववादी भी इसी देश में रहते हैं तथा पाकिस्तान आदि के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताकर भारत तथा भारतवासियों के साथ द्वेष करते हैं। कश्मीर में ऐसा प्रायः होता रहता है। इसका ताजा उदाहरण यह है कि जून २०१५ में कश्मीर के अलगवावादी नेता गिलानी को अपनी बेटी से मिलने विदेश जाना था पासपोर्ट पर उन्होंने अपने को भारतीय नहीं लिखा। परिणामस्वरूप उन्हें पासपोर्ट नहीं दिया गया। अन्त में उन्होंने राष्ट्रीयता के कालम में भारतीय लिख तो दिया किन्तु स्पष्ट कह भी दिया कि यह विवशतावश किया गया है। भारतवर्ष में यह अलगाव राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। उत्तरी-पूर्वी राज्यों में भी यही स्थिति है। ऐसा होने से देश की अखण्डता खतरे में पड़ती है।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः—मन्त्र में सामाजिक, राष्ट्रीय तथा घरेलू एकता के लिएक उपाय बतलाया गया है कि हम एक दूसरे के लिए 'वल्गुः' अर्थात् कल्याणकारिणी प्रेममयी वाणी बोलें। इसके द्वारा ही हम एक दूसरे की ओर आकृष्ट होकर सुखपूर्वक रह सकते हैं।

सधुराः—परिवार तथा समाज में हमारा 'धुरा' अर्थात् आश्रय एक होना चाहिए। परिवार के अन्य सदस्य उसकी परिक्रमा उसी प्रकार करते रहें, जैसे कि गाड़ी के पहिए के धुरे आगे गति करते हुए गाड़ी के धुरे की ही परिक्रमा करते रहते हैं। वही धुरा समस्त गाड़ी को आगे ले जाता है। इसलिए प्रमुख पुरुष एक ही होना चाहिए। जिसकी आज्ञा का पालन सभी करते रहें। यदि ऐसा न होकर प्रत्येक प्राणी के अन्दर नेतृत्व की भावना आ जायेगी, तो उसका परिणाम इस प्रकार होगा—

सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

जिस समाज या राष्ट्र में सभी लोग अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान समझते हुए नेता बनने की इच्छा करते हैं वहाँ पर दुर्भिक्ष, मृत्यु तथा भय उपस्थित हो जाते हैं।

संराधयन्त—मिलकर रहने के साथ-साथ हमें सदैव कुछ न कुछ निर्माण के कार्यों में लगा रहना चाहिए। कभी भी निष्क्रिय होकर नहीं

बैठना चाहिए।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि—इसके साथ ही हम संमनस अर्थात् समान विचार वाले होकर समाज दिशा में गतिशील हो। हमारे कार्यों की दिशाएँ एक दूसरे के विरुद्ध न हों। इस प्रकार यह मन्त्र परिवार समाज तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए ही परम उपयोगी है।

मधुमय जीवन—अथर्ववेद में ऐसे जीवन की कामना है, जिसमें ईर्ष्या-द्वेष, परापकार की भावना तनिक भी न हो। वेद यह भी कहता है कि मेरे जीवन का यह माधुर्य कृत्रिम न होकर वास्तविक=स्वाभाविक हो। इसके लिए वेद मधु से उपमा देते हुए कहता है कि जिस प्रकार मधु में प्राकृतिक मिठास है, अन्य मीठे पदार्थ कृत्रिम होते हैं, इसी प्रकार मेरी वाणी भी स्वाभाविक मीठी हो, किन्तु यह माधुर्य केवल वाणी तक सीमित न हो, अपितु वाणी के मूल में, हृदय में—जहाँ से कि वाणी निकल रही है, वहाँ भी माधुर्य का खजाना हो। अर्थात् अन्यों के लिए मैं अपने हृदय में प्रेम एवं माधुर्ययुक्त भाव रखते हुए ही जिह्वा के द्वारा भी उस माधुर्य की प्रस्तुति करूँ।

कर्म में भी माधुर्य—मेरा माधुर्य केवल मेरी वाणी तक ही सीमित न रहे, अपितु यह मधुरता मेरे मन में भी प्रवेश कर जाए। मधुमय मन के द्वारा मैं जो भी कर्म करूँ, मेरे वे कर्म भी माधुर्ययुक्त हों, विषाक्त नहीं हों। मन्त्र इस प्रकार है—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

—अथर्व० १।३४।२

इस प्रकार मन, हृदय, वाणी तथा कर्म इन सभी में माधुर्य का संचार करके वेद व्यक्ति के ईर्ष्या-द्वेष, कटुता आदि को सर्वथा समाप्त करके उसके जीवन को पूर्णतः माधुर्ययुक्त बना देना चाहता है। इसीलिए वह कहता है—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः॥

—अथर्व० १।३४।३

मैं घर से जिधर को भी निकलूँ, वहाँ पर माधुर्य का, स्नेह का सञ्चार करते हुए निकलूँ तथा जब भी घर में वापस लौटूँ, तब भी उक्त माधुर्य से ओतप्रोत होकर ही लौटूँ। ऐसा न हो कि संसार में व्याप्त कर्कशता, रूक्षता मेरे ऊपर हावी हो जाएँ। इस माधुर्य के कारण लोग मेरे प्रति उसी प्रकार आकृष्ट हों, जैसे कि मधु के प्रति मक्खियाँ।

अथर्ववेद व्यक्ति को केवल मनुष्यों में ही प्रिय नहीं बना देना चाहता, अपितु वेद तो चाहता है कि वह पशुओं तक का भी प्रिय बन

जाए। वह समस्त प्रजा का प्रिय बन जाए। वह विद्वानों का भी प्रिय बने तथा सामान्य प्रजा का भी प्रिय बने। यथा—

प्रियो देवानां भूयासं प्रियः प्रजानां भूयासं।
प्रियः पशूनां भूयासं प्रियः समानानां भूयासम्॥

—अथर्व० १७।१।२-५

व्यापार एवं कृषि कर्म—चारों वर्णों में वैश्य का प्रमुख कार्य व्यापार एवं कृषि कार्य बतलाया गया है। अथर्व कहता है कि हम न केवल पृथिवी पर ही जाकर व्यापार करें, अपितु आकाश मार्ग के द्वारा भी दूरस्थ देशों से व्यापार करें—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

—अथर्व० ३।१५।२

वेद का ध्यान इस ओर भी है कि मार्ग में दुष्ट लोग धन आदि का अपहरण आदि भी कर सकते हैं। इसलिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह इन मार्गों से ऐसे दुष्टों को दूर करके—

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

—अथर्व० ३।१५।१

इसी काण्ड के सूक्त १७ में कृषिकर्म का उपदेश भी दिया गया है। यहाँ पर एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि सीता अर्थात् हल के द्वारा जोती गयी भूमि दूध, घृत तथा मधु से युक्त हो।[1] यह एक विशेष बात है। आजकल बीज बोने के साथ-साथ खेतों में खाद भी डाला जाता है जिससे पैदावार अच्छी होती है। इसके साथ ही घृत-दुग्ध तथा मधु का प्रयोग कैसे किया जाए तथा इसका क्या लाभ होगा, यह अनुसन्धान का विषय है।

कराधान—राष्ट्र के कार्य प्रजा द्वारा कर (टैक्स) आदि के रूप में दिये गये धन से ही चलते हैं। अथर्व में इसका विधान भी किया गया है।

शालानिर्माण—अथर्ववेद में शालाविद्या भी विद्यमान है। नवम काण्ड का सम्पूर्ण तृतीय सूक्त गृहनिर्माण की विधि के बतलाने वाला है। यहाँ पर दो, चार, छह, आठ तथा दश कक्षों वाली शाला के निर्माण की विधि बतलायी गयी है (म० १२)। इस घर में अन्न का स्टोर, रसोई, बैठक (ड्राइंग रूम) अन्तर्गृह (बैडरूम) तथा अतिथियों के लिए स्थान यह सब कुछ होना चाहिए। यथा—

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥

—अथर्व० ९।३।७

१. घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। (अथर्व० ३।१७।९)

तृतीय काण्ड के सूक्त १२ में भी शाला के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। इस सूक्त के अनुसार हमारे घर सर्ववीर, सुवीर तथा अरिष्टवीर हों। अर्थात् उनमें बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ, युवा आदि के रूप में सभी लोग मिलकर रहें। वे सभी सुवीर अर्थात् स्वास्थ्य तथा आचरण आदि की दृष्टि से उत्तम हों एवं अरिष्टवीर अर्थात् अहिंसित रहें। मृत्यु आदि या अन्य आपत्तियों को प्राप्त न करें। इस घर में वायु, सूर्य तथा प्रातःकालिक सविता का प्रवेश रहे एवं बृहस्पति अर्थात् ज्ञानीजन समय-समय पर प्रवचन आदि देते रहें—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।

—अथर्व० ३।१२।४

अतिथियज्ञ—पञ्चयज्ञों में अतिथियज्ञ प्रमुख स्थान रखता है। अथर्ववेद के नवम काण्ड के सूक्त छह में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वहाँ कहा गया है कि अतिथि लोग जिसका अन्न खाते हैं, वह निष्पाप हो जाता है तथा उसे अतिथि स्वर्गलोक प्राप्त करा देते हैं—

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति। —अथर्व० ९।६।२५

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः।

—अथर्व० ९।६।२३

अथर्ववेद कहता है कि अतिथि से पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए। जो अतिथि से पहले भोजन कर लेता है, उसके इष्ट तथा आपूर्त्त कार्य—रस, ऊर्जा, कीर्ति, श्री आदि सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं—'**इष्टं च वा एष पूर्त्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति**' (अथर्व० ९।६।३१-३६) भोजन के सम्बन्ध में अथर्ववेद एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बात कहता है कि अतिथि अन्नदाता के प्रति द्वेषभाव रखता हुआ उसका अन्न न खाए, अपितु उसके कल्याण की कामना करे। इसी प्रकार जो भी व्यक्ति अतिथि से द्वेष करता हो, जो अतिथियज्ञ को निष्फल जानता हो या जो इस विषय में सन्दिग्ध मन वाला हो, उसका अन्न भी अतिथि न खाए—

स य एवं विद्वान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य॥ —अथर्व० ९।६।२४

अन्न का प्रभाव मन पर पड़ता है। क्योंकि मन का निर्माण अन्न से ही होता है। इसीलिए यहाँ द्वेषभाव के सर्वथा त्याग का उपदेश किया है कि अतिथि तथा उसे भोजन कराने वाले दोनों के मन में ही द्वेषभाव न होना चाहिए, अन्यथा उसके प्रभाव से मन भी दूषित हो जायेगा। प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक ही भोजन कराना चाहिए।

पितृश्राद्ध—अथर्ववेद में पितरों के श्राद्ध का भी उल्लेख है। अठारहवें काण्ड का सम्पूर्ण चतुर्थ सूक्त ही इस विषय में कहा गया है, किन्तु यह श्राद्ध जीवित पितरों का अभिप्रेत है, मृतकों का नहीं। मृतक

श्राद्ध का वेदों में कहीं भी विधान नहीं है। इस सूक्त के मन्त्रों में पितरों के जो-जो विशेषण तथा कार्य कहे गये हैं, वे जीवित पितरों द्वारा ही किये जा सकते हैं मृत पितरों के द्वारा नहीं। इसी सूक्त का एक मन्त्र इस प्रकार है—

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान्हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥

—अथर्व० १८।४।६३

पुत्र-पौत्रों ने अपने पितरों को जो कि वानप्रस्थ के रूप में घर से दूर आश्रम आदि में रह रहे हैं, उनको अपने घर पर निमन्त्रित किया है। भोजनादि करके पितर वापस अपने स्थान को लौट रहे हैं। उनका वर्णन यहाँ इस मन्त्र में किया गया है। मन्त्र में कहा गया है कि सोम्य स्वभाव वाले पितर लोग नागरिक वाहनों के द्वारा परायात—अपने दूर-दूर के स्थानों में चले जाइए। तदनन्तर मास-मास के पश्चात् हविष्यान्नों को खाने के लिए पुनः यहाँ हमारे घरों में आइए। यहाँ स्पष्ट रूप में ऐसे पितरों का ही वर्णन है, जो गृहाश्रम पूर्ण करने बाद घर से कहीं दूर रह रहे हैं तथा समय-समय पर पुत्र-पौत्रों द्वारा निमन्त्रित होकर वहाँ आते रहते हैं। ये पितर आकर परिवार को उपदेश भी देते हैं तथा परिवार वालों की सेवा से प्रसन्न होते हैं। उनके दिये गये अन्न को खाते हैं। ये सब क्रियाएँ तो जीवित पितर ही कर सकते हैं, मृत पितर नहीं। अतः वेद के आदेशानुसार प्रतिमास पूर्णिमा या अमावस्या को या अन्य पर्वों पर हमें अपने पितरों को निमन्त्रित करके उनका सत्कार करते रहना चाहिए।

योग एवं भक्ति—अथर्ववेद में अन्य विषयों के साथ भक्ति एवं योगविषयक संकेत भी प्राप्त होते हैं। बीसवें काण्ड में इनकी सर्वाधिक चर्चा की गयी है। इस काण्ड के सूक्त २६ का पहला मन्त्र इस प्रकार है जहाँ कि स्पष्ट योग का नाम लेकर उल्लेख किया गया है—

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥

—अथर्व० २०।२६।१

अर्थात् हम योग की प्रत्येक भूमिका में या प्रत्येक काल के योगाभ्यास में अपनी रक्षा के लिए इन्द्र को ही पुकारते हैं, क्योंकि वही इन्द्र अर्थात् परमेश्वर प्रगति तथा वृद्धि देने वाला है। चतुर्थ काण्ड के सूक्त १४ के तृतीय मन्त्र में योगविषयक प्रगति का विश्लेषण करते हुए साधक कहता है कि मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में आरुढ हो गया हूँ तथा अन्तरिक्ष से द्युलोक में। यहाँ पर शरीर का अधोभाग ही पृथिवी पद वाच्य है, मध्य भाग अन्तरिक्ष पद वाच्य है तथा शिर ही द्यु स्थानीय है। अभिप्रायः यह है कि पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर हृदयरूपी अन्तरिक्ष में परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए द्युलोक अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके वहाँ पर

स्वर्ज्योति अर्थात् सुखविशेष रूप ज्योति को प्राप्त हो गया हूँ।[१] यह शरीर के चक्रवेधन की प्रक्रिया है। शरीर में आठ चक्र हैं, जैसा कि १।१२।३१ में भी कहा गया है—'**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः।**' सबसे प्रथम चक्र मूलाधार है। इसके बाद स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार चक्र और है। यह सबसे अन्तिम चक्र ब्रह्मरन्ध्र में है। यहीं पर स्वर्ज्योति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद का यह मन्त्र साक्षात् योगपरक ही है।

उपासना तथा भक्तिभाव—त्रयीविद्या की दृष्टि से सामवेद को उपासना का वेद माना जाता है। अथर्ववेद में भी उपासना तथा भक्ति-सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। इसके बीसवें काण्ड में अधिकांश सूक्त उपासना-परक ही हैं। यथा—

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते॥

—अथर्व० २०।५२।१

अर्थात् हम लोग भक्तिरूपी यज्ञों के ऋत्विक् हैं। हमने भक्तिरस का निष्पादन किया हुआ है। हे अज्ञानावरण को छिन्न-भिन्न कर देने वाले प्रभु! पवित्र भक्तिरस के प्रवाह में बहते हुए हम स्तोता लोग सब ओर आसन लगाये हुए बैठे हैं। इस प्रकार बैठे हुए स्तोता क्या करते हैं, यह अगले मन्त्र में बतलाया है—

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।—अथर्व० २०।५२।२

हे वसु अर्थात् विश्व को वास देने वाले प्रभो! भक्तिरस के उत्पन्न हो जाने पर तथा निरेके=साँसारिक वृतियों से मन के शून्य हो जाने पर वैदिक सूक्तों द्वारा स्तुतियाँ करने वाले भक्त आपके प्रति स्वरन्ति—उच्च स्वर में स्तुतियाँ करते हैं। इसी प्रकार—

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥

—अथर्व० २०।१०४।१

हे महान् पुरुवसु! सम्पत्तिशालिन् या अनेकों को बसाने वाले परमेश्वर! मेरी वाणियाँ आपकी ही महिमा को बढ़ाया करें। पवित्र कारक आपका वर्णन-प्रवचन करने वाले शुचयः-शरीर, मन तथा इन्द्रियों से पवित्र मेधावी विद्वान् उपासक स्तुति मन्त्रों द्वारा सामने होकर आपकी ही स्तुति करते हैं। यहाँ पर कहा गया है कि आत्मा तथा अन्तःकरण से पवित्र तता मेधावी व्यक्ति ही परमेश्वर की स्तुति कर सकते हैं। अपवित्र जीवन एवं आचरण वाले मूर्खजन तो उसकी स्तुति से दूर भागते हैं। हम परमेश्वर की

---

१. पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ —अथर्व० ४।१४।३

उपासना क्यों करें, इस पर प्रकाश डालते हुए अथर्व० २०।५१।३ मन्त्र कहता है—

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥

हे उपासक! अभिष्टये—अपनी कामना की पूर्ति के लिए तू सुगमता से कामना के प्रदाता शक्तिशाली परमेश्वर की प्र सु अर्थात् अच्छी प्रकार प्रकर्षरूप में अर्चना किया कर। वह परमेश्वर भक्तिरस का सम्पादन करने वाले तथा स्तुति करने वाले भक्त को हजारों प्रकार से उसका अभीष्ट धन प्रदान करता है। उपासक का अभीष्ट धन सम्पत्ति न होकर भक्ति तथा मोक्ष भी होता है। परमेश्वर उपासक को वह मोक्षरूपी धन प्राप्त कराता है। इस प्रकार अथर्ववेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जहाँ चरम कोटि की भक्तिभावना द्योतित होती है।

रोग एवं चिकित्साविज्ञान

अथर्ववेद में चिकित्सा के सम्बन्ध में भी एक सुस्पष्ट प्रक्रिया प्राप्त होती है। यहाँ पर अनेक रोगों के नाम तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन विस्तार से किया गया है। क्षय, हृदय रोग, पीलिया, मूर्च्छा आदि अनेक गम्भीर रोगों की चिकित्सा भी यहाँ पर है। यद्यपि—आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। किन्तु अथर्ववेद में विस्तृत चिकित्सा विज्ञान प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान् आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद मानते हैं, जो अयुक्तियुक्त भी नहीं है।

विभिन्न प्रकार की चिकित्सा—अथर्ववेद में विभिन्न रोगों के शमनार्थ न केवल अनेक ओषधियों का ही वर्णन है, अपितु अन्य अनेक प्रकार की चिकित्साओं का उल्लेख भी किया गया है। यथा—जल, चिकित्सा, सूर्यकिरण-चिकित्सा, अग्निहोत्र-चिकित्सा, वायु-चिकित्सा आदि। अग्नि, वायु तथा जल इन तीनों महाभूतों के आधार पर आजकल प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली (netriopathi) विकसित की गयी है, जिसके द्वारा अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा की जाती है। अथर्ववेद में इस प्रणाली का विस्तार से वर्णन है। यथा—

(१) सूर्यचिकित्सा—अथर्ववेद (२।३२।१) में कहा गया है कि उदित होता हुआ तथा अस्त होता हुआ सूर्य नाना प्रकार रोगजनक कृमियों का नाश करता है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।

(२) जल चिकित्सा—अथर्ववेद में जलों को विश्वभेषजी अर्थात् समस्त रोगों का नाशक तथा रोग के कारणों को भी नष्ट करने वाला बतलाया गया है—

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥

—अथर्व० ३।७।५

ये जल हमें क्षेत्रिय अर्थात् प्रादेशिक तथा शरीरसम्बन्धी रोगों से बचाएँ। इसी प्रकार अथर्व० १०।५।२४ में कहा है—

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु॥

यहाँ पर जलों को रोग, दुरित=पाप तथा दुःस्वप्न आदि को दूर करने वाला कहा गया है। पाप मन का भाव है। जलों के द्वारा मन के पाप को भी दूर किया जा सकता है। स्नान तथा आचमन करने से शरीर के साथ मन भी शुद्ध होता है। रात्रि में हाथ पैर धोकर सोने से बुरे स्वप्न कष्ट नहीं देते। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड में भी जलों को अमृत कहा है।[1]

(३) अग्नि चिकित्सा—अथर्ववेद में यज्ञाग्नि में प्रदत्त आहुतियाँ द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा का विधान किया गया है। यज्ञ में विभिन्न रोगों को नष्ट करने वाली औषधीयुक्त सामग्री डाली जाती है, जिससे वह आहुति सूक्ष्म रूप को प्राप्त होकर विभिन्न रोगों को दूर करती है। इस सम्बन्ध में (अथर्व० ३।११।१) मन्त्र इस प्रकार है—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥

यहाँ पर अज्ञात यक्ष्मा रोग, क्षयरोग तथा अंगों को जकड़ देने वाली व्याधियों को हवि के द्वारा दूर करना कहा है इस प्रकार अन्यत्र भी अथर्ववेद में अग्नि, जल, वायु तथा सूर्य द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा का विधान किया गया है।

चिकित्सा तथा ओषधियों आदि का वर्णन प्रमुखतः अथर्ववेद के ३, ८ तथा १८वें काण्डों में प्राप्त होता है। यहाँ पर शल्य चिकित्सा का भी वर्णन है। हड्डी, चर्म, मांस आदि की चिकित्सा शल्य द्वारा ही सम्भव हैं। यदि हड्डी, मांस, चर्म, मज्जा आदि किसी कारणवश कट जाएँ तो वे पुनः जुड़ जाएँ, ऐसा वेद कहता है—

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥

—अथर्व० ४।१२।३

अथर्ववेद में शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के अंगों के नाम विस्तार से लेकर उनकी चिकित्सा भी पृथक्-पृथक् रूप में बतलायी गयी है। इसी प्रकार ज्वर, अपस्मार, हृदयरोग, जकड़ने वाले रोग, मांस, रुधिर आदि से सम्बन्धित रोग, नेत्र रोग इत्यादि अनेक रोगों का नाम लेकर उल्लेख हुआ है। यहाँ पर विस्तारभय से उनका वर्णन नहीं किया

जा सकता। यह पृथक् पुस्तक का विषय है।

अनेक प्रकार के कृमियों के भेद एवं उनसे उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा भी यहाँ पर है। वर्तमान विज्ञान का यही मानना है कि प्रायः सभी रोग कृमियों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। वेद में इनको पिशाच तथा क्रव्याद कहा गया है, क्योंकि ये पिश अर्थात् मांस को खाते हैं। यही अर्थ क्रव्याद का भी है। इस प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में अथर्ववेद हमें अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक जानकारी देता है।

आदर्श वैदिक गृहस्थाश्रम

वेदों में जिस आदर्श गृहस्थ का वर्णन है, वह वस्तुतः स्वर्ग है। इसके विपरीत व्याधि-कलह-दारिद्र्य आदि से युक्त घर ही नरक है। स्वर्ग तथा नरक की यही परिभाषा है—'स्वर्गच्छति इति स्वर्गः।' अर्थात् जो सुख की ओर जाए, सुख को प्राप्त कराए वह स्वर्ग है तथा 'नरकं नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणम्' (निरुक्त) अर्थात् अवनति की ओर जाना ही नरक है, क्योंकि वहाँ पर रहना अच्छा नहीं लगता।

अथर्ववेद के चतुर्दश काण्ड में आदर्श विवाह एवं आदर्श गृहस्थ का जो चित्रण किया गया है, वही वस्तुतः स्वर्ग है। वेद के अनुसार विवाह वर-वधु की परस्पर सहमति एवं प्रसन्नता से उनके गुणों के आधार पर होना चाहिए। इसके आधार ही वर्त्तमान में सुरसा के मुख की तरह सर्वत्र व्याप्त दहेजरूपी दानव से छुटकारा पाया जा सकता है। विवाहोपरान्त नववधु को उपदेश देते हुए कहा गया है—

गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥

—अथर्व० १४।१।२०

हे गृहपत्नी! तू पतिगृह में जाकर वशिनी अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाली हो। तेरा आचरण वहाँ अति संयत होना चाहिए। काम, क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि विकारों से सर्वथा दूर रहकर तू वहाँ अपने कर्त्तव्य-ज्ञान कथन किया कर। इस प्रकार ही तू वहाँ अन्य सेवकों आदि पर भी नियन्त्रण करने वाली बन सकेगी। यह घर कैसा है—

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु। —अथर्व० १४।१।१९

तेरा पतिगृह ऋत् अर्थात् सत्य नियमों का घर है। वहाँ सुकृत जन-उत्तम कर्म करने वाले व्यक्ति रहते हैं। वहाँ पर तेरे लिए स्योनम्—सुख हो। इस प्रकार सत्याचरण से युक्त घर में उत्तम कर्म करने वाले व्यक्ति ही सुख प्राप्त कर सकते हैं, दुष्कर्मा व्यक्ति सुख को प्राप्त नहीं कर सकते।

गृहकार्यों का दायित्व—वेद आगे कहता है कि इस घर में हे नव

१. अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्। (अथर्व० १।४।४)

वधु! तू 'गार्हपत्याय जागृहि' (मं० २१) गृहकार्यों के सम्पादन के लिए सर्वदा जागरुक रहना। उनमें प्रमाद न करना। भोजन-छादन, सन्तान, यज्ञ, अतिथि सेवा, दान आदि का दायित्व तुम्हारा ही है क्योंकि तुम गृहपत्नी हो। इसके साथ ही 'जिर्विविदथमावदासि' तू वृद्धावस्था तक अपने ज्ञान-विज्ञान का सर्वत्र उपदेश करते रहना।

तलाक आदि नहीं—पति-पत्नी का सम्बन्ध समस्त आयु के लिए है। एक बार परीक्षा करके जिसे वरण कर लिया, उसे किसी स्वार्थवश छोड़ना वेद विरुद्ध है।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥

—अथर्व० १४।१।२२

वेद कहता है कि तुम दोनों पति-पत्नी कभी भी वियुक्त मत होना। अपनी सम्पूर्ण आयु को यहाँ इस उत्तम घर में पुत्र-पौत्रों के साथ प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करना।

घर में पत्नी व्यथित न हो—पाणिग्रहण के समय पति अपनी नव-वधू को आश्वस्त करते हुए कहता है कि गार्हपत्य कार्यों के सम्पादनार्थ तथा सौभाग्य प्राप्त करने के लिए ही मैंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया है इसलिए हमारे घर में दौर्भाग्य को स्थान नहीं होना चाहिए।[1] इस घर में आकर तू सौभाग्यवती हो तथा कभी भी किसी कष्ट या अभाव के द्वारा दुःखी न हो—'मा व्यथिष्टा मया सह प्रजया च धनेन च' (अथर्व० १४।१।४८) वेद ने यहाँ एक बहुत ही गम्भीर बात कही है कि पतिगृह में आकर पत्नी कभी भी दुःखी न हो। मनु जी वेद के इसी आदेश को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस परिवार में स्त्रियाँ दुःखी रहतीं, हैं वह कुल नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जहाँ ये दुःखी नहीं रहती वह परिवार सर्वदा वृद्धि को प्राप्त करता है—

शोचन्ति जामयो विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥

—मनु० अ० ३

आज हम थोड़े दहेज के लोभ में ही नव वधू को नाना प्रकार से प्रताड़ित करते हैं, यहाँ तक कि उसकी हत्या भी कर देते हैं। अन्य भी अनेक कारणों तथा शराबी, कुमार्गी पति की प्राप्ति से स्त्रियाँ घरों में दुःखी रहती है। इसी का परिणाम है कि हमारा समाज दुर्गति को प्राप्त कर रहा है।

घर में पत्नी की स्थिति—वेद घर में पत्नी को साम्राज्ञी पद प्रदान

१. अथर्व० १४।१।५०

करता है। साम्राज्ञी का अर्थ शासिका नहीं है, अपितु वेद स्वयं ही इसे स्पष्ट करते हुए कहता है कि जिस प्रकार समुद्र नदियों को साम्राज्ञी बना देता है। इसी प्रकार पतिगृह को प्राप्त करके तू साम्राज्ञी बन जा—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

—अथर्व० १४।१।४३

नदी थोड़ा-सा पानी लेकर अपनी सीमा में बंधी हुयी सागर में आकर अपने को आत्मसात् कर देती है। पूर्णतः विलीन हो जाती है। समुद्र में मिल जाने पर कोई भी उस नदी की पृथक् पहचान नहीं कर सकता कि उसका पानी कड़वा था या मीठा। उसका रंग काला था या गोरा। नदी का यह समर्पण व्यर्थ नहीं जाता। इसके बदले में समुद्र उसे साम्राज्ञी बना देता है। उसे समुद्र का रूप दे देता है। अब वह छोटी नदी नहीं, अपितु महा समुद्र बन गयी है। अब उसे इसी नाम से जाना जायेगा। परिवार में नव वधू के पूर्ण समर्पण तथा उसे यहाँ प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा एवं विशालता की ऐसी उपमा समस्त संसार के साहित्य में दुर्लभ है, जो कि वेद ने दी है।

घर चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन—घर में इस प्रकार प्रतिष्टा को प्राप्त करके नारी धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की साधिका बन जाती है। वेद कहता है—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥

—अथर्व० १४।१।४२

हे गृहपत्नी! तू यहाँ पतिगृह में मन की प्रसन्नता (धर्म) रयिम् (अर्थ), प्रजा (काम) को चाहती हुई अमृताय-मोक्ष के लिए सन्नद्ध हो जा। इस प्रकार पत्नी को जीवन के चारों पुरुषार्थों को पूर्ण करने वाली माना है।

यह तभी सम्भव है, जब कि वह पति के अनुकूल व्रतों=कार्यों को करने वाली हो। व्रतमिति कर्मनाम (निरुक्त) यास्काचार्य कर्म को ही व्रत मानते हैं। मन्त्र ६१ में भी उक्त भाव को ही दर्शाता हुआ वेद कहता है—

आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्।

हे सूर्य के समान तेजस्विनी नारी! तू अमृत अर्थात् मोक्ष के प्राप्त करानेहारे इस सुखमय घर को प्राप्त कर।

पत्नी सुमङ्गली है—वेद गृहपत्नी के लिए अनेक बार सुमङ्गली पद का प्रयोग करता है। इसका अर्थ है कि वह उत्तम मङ्गलों वाली है। उन्हें प्राप्त कराने वाली है। सुमङ्गली नारी ही धर्म आदि चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करा सकती है, दुर्मङ्गली नहीं। अतः नारी को अपना स्वभाव मङ्गलमय

बनाना चाहिए। इसी भाव को व्यक्त करते हुए मं० ६४ में कहा गया है—'शिवा स्योना पतिलोके विराज।' अर्थात् हे नारी! तू इस पतिगृह में कल्याणकारिणी तथा सुखदामिनी बन कर सुशोभित हो। सुमङ्गली के साथ-साथ पत्नी के अन्य गुणों का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान् ॥

—अथर्व० १४।२।२६

अर्थात् यह गृहपत्नी सुमङ्गली है, गृहवासियों के लिए गृहस्थरूपी सागर की नौकारूप है। पति को उत्तम सुख देने वाली तथा श्वसुर आदि के लिए शान्तिदायिका है।

गृहस्थ एक तीर्थ है—इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त परिवार को वेद (१४।२।६) एक तीर्थ बतलाते हुए कहता है—

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्य॑म्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥

तरन्ति जना येन—अर्थात् जिस के द्वारा व्यक्ति दुःखों के पार जाए, वही तीर्थ कहलाता है। गृहस्थ भी तीर्थतुल्य पवित्र आश्रम है। यहाँ पर यह गृहपत्नी अपने कल्याणकारी मन के साथ प्रमुदित होती हुई घर की सम्पत्ति की रक्षा करे। घर के आय-व्यय को धारण करे। इस प्रकार इस घर से दुर्गति दूर हो जाए। इसी प्रकार मन्त्र ८ में भी गृहस्थ मार्ग को 'सुगं स्वस्तिवाहनम्' अर्थात् कल्याण को प्राप्त कराने वाला कहा है। मन्त्र ९ में गृहपत्नी के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

प्रतितिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।

हे नारी! तू विराट् स्वरूप वाली है। विविधं राजत इति विराट्। अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। तू विष्णु स्वरूपा है। सूर्य के समान प्रकाशस्वरूपा तथा प्राणदायिनी है। तू यहाँ पर प्रतिष्ठा को प्राप्त कर।

प्रेमपूर्ण दृष्टि—परिवार में प्रेमपूर्ण दृष्टि अत्यावश्यक है। यह दृष्टि तभी प्राप्त होगी, जब कि मन भी प्रेम से पूरित होगा। इसीलिए वेद नारी के विषय में कहता है—

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥

—अथर्व० १४।२।१७

हे नारी! तू स्नेहपूर्ण दृष्टि वाली है। परिवार वालों के लिए स्योना-सुखदायिनी तथा शग्मा-शक्तिदायिनी है। यह उत्तम सेवा करने वाली तथा अपना एवं समस्त घर का नियन्त्रण करने वाली है। वीरपुत्रों को जन्म देने वाली तथा देवर आदि के लिए मङ्गलकामना करने वाली है। इन गुणों से युक्त तुम्हारे साथ हम सब परिवार वाले वृद्धि को प्राप्त करें।

आपत्ति-दरिद्रता को दूर भगाना—जिस गृहपत्नी में उक्त गुण होंगे, वह परिवार निश्चय ही उन्नति को प्राप्त करेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। उक्त गुणों से युक्त गृह-स्वामिनी आपत्ति तथा दरिद्रता को ललकारते हुए कहती है—'अराते प्रपत मेह रंस्था। निर्ऋते स्वाद् गृहात् त्वा अभिभूः' (म० १९) हे शत्रुरूपा आपत्ति! तू इस घर से शीघ्र चली जा। यहाँ मत ठहर। हे दरिद्रता! मैं तुझे अपने घर से पराभूत करती हूँ। भाव यह है कि ऐसे वैदिक परिवार में दरिद्रता या आपत्ति आ ही नहीं सकती।

अग्निहोत्र एवं उसके लाभ—गृहस्थ को अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए, तभी इन गुणों की प्राप्ति होगी। वेद कहता है कि आसन बिछाकर उत्तम सन्तानों वाली गृहपत्नी अग्नि की सपर्या=पूजा करे। अर्थात् यज्ञ करे—'तत्रोपविश्य सुप्रजा इमममग्निं सपर्यतु' (मं० २३) इस दैनिक अग्निहोत्र से शुद्ध वायु, उत्तम स्वास्थ्य एवं दिव्य भावों की प्राप्ति तो होगी ही, इसके साथ ही वेद इसका महान् लाभ बतलाते हुए कहता है कि इससे अकाल मृत्यु भी दूर रहेगी। अथर्ववेद के चतुर्दश काण्ड के द्वितीय सूक्त में चार मन्त्र (५९-६२) इसी भाव को द्योतित करते हैं कि अकाल मृत्यु से घरों में जो रुदन उत्पन्न होता है अग्नि तथा समिधा तुम्हें उस पाप से छुड़ाएँ। इन चारों मन्त्रों की अन्तिम पंक्ति समान रूप में निम्न प्रकार से है—

अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुञ्चताम्।

अर्थात् यह अग्नि तथा सूर्य तुम्हें इस पाप से बचाएँ। इसीलिए परिवार वाले जन कहते हैं—'अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्रण आयूंषि तारिषत्' (मं० ६७) अर्थात् हम तन-मन से शुद्ध पवित्र होकर यज्ञ करने योग्य हो गये हैं। यह शुद्धि हमारी आयु को बढ़ाए।

सूर्य दीर्घायु प्रदाता है—गृहपत्नी को सूर्योदय से पहले ही उठकर अन्यों को भी जगा देना चाहिए, इससे जीवन १०० वर्ष तक सुदीर्घ होगा क्योंकि सविता=प्रातःकालीन सूर्य आयु को दीर्घ करने वाला है। मन्त्र ७५ कहता है—

प्र बुध्यस्य सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥

अर्थात् हे नारी! तू प्रातःकाल उठ तथा अन्यजनों को भी जगा। यह सविता तेरी आयु को दीर्घ करे। सविता किस प्रकार जीवन प्रदाता है, इस विषय को निम्न उदाहरण पुष्ट करता है—

गुजराती 'जनसत्ता' नामक दैनिक पत्र के आद्य सम्पादक स्व० रमणलाल सेठ ने तत्कालीन डी० एस० पी० श्री रुस्तम पटेल से पूछा—आपके पारसी समाज के अधिकांश लोग बड़े ऊँचे-ऊँचे पदों पर पाये

जाते हैं, इसका क्या कारण है। कई लब्धप्रतिष्ठ डॉक्टर पारसी हैं। नानी पालकी वाला जैसे वकालत के क्षेत्र में, नाणावटी जैसे नौसेना के क्षेत्र में, फील्डमार्शल माणेकशा जैसे सेना में अपना कीर्तिमान स्थापित किये हुए हैं। श्री रुस्तम पटेल ने इसका निम्न उत्तर दिया 'हम पारसी लोग सूर्य के उपासक हैं। अग्नि को ही हम अपना इष्टदेव मानते हैं। सूर्योदय के पूर्व ही सभी पारसी स्नानादि नित्यकर्म से निवृत होकर भगवान् सूर्य का स्वागत करने के लिए तैयार हो जाते हैं। भगवान् सूर्य की उपस्थिति में हम भला कैसे सो सकते हैं' इस प्रकार सूर्योदय से पूर्व आबालवृद्ध सभी पारसी उठकर प्रातःकाल के समय में अपने तन-मन बुद्धि का विकास करके जीवन के सभी क्षेत्रों में अग्रणी हैं।

गृहपति का कर्त्तव्य एवं व्यवहार—उक्त गुणों से युक्त पत्नी के प्रति गृहपति का व्यवहार कैसा हो, इस को पति ही अपने मुख से इस प्रकार कहता है—

तामन्ववर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः। —अथर्व० १४।१।५६

अर्थात् मैं अपने प्रशंसनीय चाल-चलन वाले मित्रों के साथ अपनी पत्नी के अनुकूल आचरण करूँगा, प्रतिकूल नहीं। दोनों के परस्पर अनुकूल रहने पर ही परिवार स्वर्ग समान बनेगा। इसके अतिरिक्त 'ममेयमस्तु पोष्या' (मं० ५२) कहकर पत्नी के पूर्ण रूप में पोषण की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। विवाह के समय बोले गये 'सखे सप्तपदी भव' के अनुसार पत्नी के साथ बराबर का मैत्रीपूर्ण व्यवहार करके ही गृहस्थ को स्वर्ग तुल्य बनाया जा सकता है।

जीवन का संगीत—पति-पत्नी का जीवन सामवेद के तुल्य है। सामवेद गायन-संगीत प्रधान है। यज्ञों में सामवेद के मन्त्रों से ही गान किया जाता है। साम पद सा+अम दो पदों से मिलकर बना है। पति कहता है कि मैं 'अमः' हूँ तथा पत्नी 'सा' है। दोनों को मिलाकर साम=संगीत फूटता है। जीवन का आनन्द प्राप्त होता है। अमः का अर्थ गतिशीलता है, किन्तु पति की इस गति के पीछे सा=वह पत्नी ही शक्ति रूप में विराजमान है। इससे पति गतिशील हैं। उसके जीवन में स्फूर्ति है। पति आगे कहता है कि मैं स्वयं सामस्वरूप हूँ तथा हे पत्नी! तू ऋक् स्वरूप है। अर्थात् मैं शान्तिमय हूँ तथा तुम स्तुतिस्वरूप हो। स्तुति तथा शान्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। स्तुति के लिए शान्ति तथा शान्त रहने के लिए स्तुति अनिवार्य है। इसी प्रकार पति-पत्नी भी एक-दूसरे के पूरक हैं। मैं द्युलोक हूँ तथा तुम पृथिवी हो। जिस प्रकार पृथिवी सब कुछ सहन करती है तथा सबके लिए खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करके सबका भरण-पोषण करती है तथा सबका आश्रय है। इसी प्रकार पत्नी भी समूचे घर का आधार है। वह भी दूसरों के सुख के लिए अपने ऊपर दुःख भी

सहन करती है। पति द्युलोक के समान है। जिस प्रकार द्युलोक से वर्षा होकर ही पृथिवी को तथा पृथिवीवासियों को जीवन मिलता है, उसी प्रकार पति भी पत्नीरूपी भूमि के लिए सुखों का वर्षक है।

दाम्पत्य प्रेम—इस प्रकार के स्वर्ग समान घर में पति-पत्नी उसी प्रकार प्रेम पूर्वक रहें, जैसे कि चक्रवाक तथा चक्रवाकी रहते हैं। इनकी यह विशेषता है कि इन दोनों का सम्बन्ध जीवन पर्यन्त रहता है। अन्य पशु-पक्षियों में ऐसी बात नहीं है। दूसरे—इनमें से एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं रखता है। तीसरे—रात्रि में नदी के दोनों किनारों पर अलग-अलग बैठकर भी ये पक्षी एक-दूसरे के वियोग में चिल्लाते रहते हैं। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी इसी प्रकार जीवन पर्यन्त स्थायी तथा प्रगाढ प्रेममय होना चाहिए। ऐसे पति-पत्नी उत्तम प्रजा से युक्त होकर उत्तम घर में रहते हुए सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करें, यही वैदिक गृहस्थ है तथा यही स्वर्ग है—

इहेमाविन्द्र सं नुंद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य१श्नुताम्॥

—अथर्व० १४।२।६४

अथर्ववेद में चित्रित स्वर्गतुल्य गृहस्थाश्रम को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) वहाँ सभी का परस्पर का व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए।

(२) सभी परस्पर मीठी वाणी का प्रयोग करें।

(३) घर में धन-धान्य तथा खाने-पीने की वस्तुओं की कमी न रहे।

(४) माता-पिता अपने पुत्र-पौत्रों के साथ प्रसन्न रहें।

(५) सभी को सूर्योदय से पूर्व उठ जाना चाहिए।

(६) उस घर में अग्निहोत्र तथा अतिथियज्ञ होता रहे।

(७) घर की बनावट ऐसी हो कि उसमें वायु तथा प्रकाश का अबाध प्रवेश रहना चाहिए।

(८) पति-पत्नी सखाभाव से वर्त्तते हुए एक-दूसरे के अनुकूल रहे।

(९) पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थायी है, उनमें तलाक आदि के द्वारा विच्छेद नहीं होना चाहिए।

(१०) घर के सभी प्राणी शुभकार्य करने वाले हों, तथा कोई भी एक-दूसरे को कष्ट न दें।

(११) पत्नी पतिगृह में जाकर उसे ही अपना सर्वस्व समझे तथा पतिकुल भी नव वधू को आत्मसात् करते हुए उसे पूर्ण सम्मान दे।

(१२) पत्नी को परिवार के सभी सदस्यों विशेषकर पति तथा सास-ससुर के लिए सुखकारक तथा शान्तिदायक होना चाहिए।

(१३) घर के सभी गृहसम्बन्धी कार्य तथा अर्थ-व्यवस्था पत्नी के अधीन ही रहें।

(१४) पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक बनकर संगीतमय जीवन बिताएँ।

(१५) वहाँ अकालमृत्यु नहीं आनी चाहिए।

(१६) वेद तथा परमेश्वर की चर्चा वहाँ होती रहे।

अथर्ववेद में चित्रित राष्ट्र, राजनीति एवं गृहस्थाश्रम

अथर्ववेद में एक सुदृढ़ राष्ट्र तथा उसकी उत्तम राज्य-व्यवस्था का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। राज्य के सभी अंगो-सभा, समिति, सेना, गुप्तचर, मन्त्री, राष्ट्रपति, संसद् आदि के स्वरूप पर जहाँ प्रकाश डाला गया है, वहाँ यह भी बतलाया गया है कि राष्ट्र के शत्रु कितने प्रकार के होते हैं तथा उनको क्या दण्ड देना चाहिए। राष्ट्रपुरोहित कैसा हो, उसके कर्त्तव्य का उल्लेख भी यहाँ पर किया गया है। अथर्ववेद के १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त भूमिसूक्त है। उनमें इन बातों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

अथर्ववेद का यह मन्त्र (१२।१।१२) सुप्रसिद्ध है—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।' यहाँ पर भूमि को माता तथा स्वयं को उसका पुत्र कहा गया है। इसी वेद में वेद को भी माता कहा गया है। भूमि तथा वेद दोनों के मातृत्व में अन्तर है। वेद पावमानी=पवित्र करने वाली माता है। वह हमें शुभ प्रेरणा देकर हमारे जीवन को पवित्र करती है, जबकि भूमि माता मुझे उसी प्रकार अन्न-दूध जल आदि प्रदान करके मेरा पोषण करती है, जैसे कि जन्मदात्री माता बच्चे को दुग्ध पिलाकर उसका संवर्धन करती है—**'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः'** (मं० १०)।

भूमि तथा पृथिवी—इस प्रकार यह भूमि मेरी चेतन माता के तुल्य ही है, जो मुझे जन्म देकर मेरा संवर्धन भी करती है। भूमि का सम्बन्ध जन्म से है। 'भवन्ति अस्यामिति भूमिः' जहाँ उत्पन्न होते हैं, वह भूमि है। इस प्रकार जन्म देने के कारण यह भूमि मेरी मातृतुल्य है, किन्तु मैं केवल इसी अर्थात् अपने जन्मदाता छोटे से भूभाग का ही पुत्र नहीं हूँ अपितु समस्त पृथिवी का ही पुत्र हूँ। देश आदि की सीमाएँ इसमें बाधक नहीं हैं।

भूमि तथा पृथिवी सामान्यतः एक ही अर्थ के वाचक समझे जाते हैं। किन्तु व्युत्पत्ति के आधार पर दोनों में थोड़ा-सा भेद है। 'भू' धातु से 'मि' प्रत्यय करने पर भूमि शब्द सिद्ध होता है। भू का सम्बन्ध उत्पत्ति से है। वक्ता कह रहा है कि जिस स्थान पर, भूमण्डल के जिस कोने में भी मैं उत्पन्न हुआ हूँ, वह स्थान मेरे लिए मातृतुल्य है क्योंकि उसमें मुझे जन्म दिया है। इसीलिए मातृभूमि शब्द प्रयोग भी किया जाता है।

पृथिवी का यह अर्थ नहीं है। पृथिवी का सम्बन्ध उत्पत्ति से नहीं अपितु विस्तार से है। यह शब्द 'प्रथु विस्तारे' धातु से निष्पन्न है। यास्काचार्य भी इसे 'प्रथनात् पृथिवी' अर्थात् विस्तृत होने के कारण ही पृथिवी कहते हैं। पृथिवी जहाँ तक भी फैली हुयी है, मैं उसका पुत्र हूँ। मेरा कर्त्तव्य इसका प्रथन=विस्तार करना है। विस्तार दो रूपों में—पहला यह कि पृथिवी के भागों की अलग-अलग संज्ञाएँ भी हैं। यथा—वन, पर्वत, समुद्र आदि। तद्यपि इन सब में भी पृथिवी है, तथापि उन्हें पृथिवी न कहकर उक्त नामों से ही कहा जाता है। पृथिवी उसे ही कहते हैं जो कि निवास योग्य हो, उससे पूर्व वह वन, पर्वत, जंगल कुछ भी कहला सकते हैं। इन वन, पर्वत, जंगलों को निवास योग्य बनाना ही भूमि का प्रथन=विस्तार करना है। मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। अतः मेरा कर्त्तव्य है कि मैं इसे निवासयोग्य बनाऊँ।

पृथिवी का दूसरा प्रथन=विस्तार यह है कि इसमें चोर, डाकू, लुटेरे आदि समाज विरोधी तत्त्व न रहने पाएँ। जहाँ भी ऐसे लोग रहेंगे, वह पृथिवी निवास के योग्य नहीं होगी। अतः पृथिवीपुत्र का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार की समाज एवं विश्वविरोधी शक्तियों को नष्ट करके पृथिवी पर उत्तम व्यवस्था स्थापित करे। आज विश्वभर में व्याप्त उग्रवाद को इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण पृथिवी का ही मैं पुत्र हूँ। इसमें देशों की सीमाएँ नहीं हैं। सम्पूर्ण पृथिवी ही एक घर है—'यत्र विश्वं भवत्मेकनीडम्।' प्रश्न है कि सम्पूर्ण पृथिवी का पुत्र होने पर क्या मैं अथवा उस मातृभूमि को भूल जाऊँ जहाँ कि मेरा जन्म हुआ है? यदि कोई देश या व्यक्ति मेरी मातृभूमि पर आक्रमण करे तो मैं पृथिवीभिमान पुत्र होने के नाते उसका विरोध करूँ या न करूँ। इस सम्बन्ध में वेद कहता है कि तब मेरी निष्ठा पृथिवी के उसी भाग के साथ होगी, जो कि मेरी मातृभूमि है। मैं उसकी रक्षा प्राणपण से करूँगा तथा अक्रान्ता शत्रु को सर्वथा कुचल दूँगा।

मातृभूमि के शत्रुओं के प्रकार

सम्पूर्ण पृथिवी को एक मानते हुए भी अथर्ववेद में उस स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है जबकि शत्रु अथवा दुष्ट लोग एक-दूसरे की मातृभूमि पर आक्रमण करें, वहाँ के निवासियों को मारें, कत्ल करें तथा पराधीन करें। यह सब कुछ सम्भव है, क्योंकि मातृभूमि सबकी अलग-अलग है। पृथिवीपुत्र होकर भी विदेशों अथवा राज्यों की सीमाओं में बंध गये हैं। अथर्ववेद में चार प्रकार के शत्रु गिनाए गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥

—अथर्व० १२।१।१४

(१) **यो नो द्वेषत्**—मन ही मन द्वेष करने वाले।
(२) **यः पृतन्यात्**—सेना लेकर आक्रमण करने वाले।
(३) **योऽभिदासान् मनसा**—मन से दास बनाने वाले।
(४) **यो वधेन**—वध अर्थात् हत्याएँ करने वाले।

दो देशों के बीच ही नहीं, अपितु दो राज्यों अथवा प्रान्तों के मध्य भी ऐसा सम्भव है। पराधीनता से पूर्व भारत में अनेक स्वतन्त्र राजा एवं राज्य थे। वे एक दूसरे पर आक्रमण, हत्याएँ आदि सभी कुछ करते थे। उस अवस्था में अपनी-अपनी मातृभूमि की रक्षा करना ही वहाँ के निवासियों का कर्त्तव्य होता था। इसी बात को विश्व के सन्दर्भ में देखते हैं—

(१) कुछ देश ऐसे हैं, जो सेना आदि के द्वारा तो आक्रमण नहीं करते किन्तु मन ही मन दूसरे देशों से द्वेष रखते हैं उनकी समृद्धि में बाधा डालते हैं। वे उनको शक्ति-सम्पन्न नहीं देखना चाहते। उदाहरणार्थ पाकिस्तान भारत का हित नहीं चाहता तथा ऐसी चालें चलता ही रहता है कि जिससे भारत शक्तिशाली न बन पाए।

(२) सेना द्वारा आक्रमण करने वालों की यहाँ लम्बी परम्परा रही है। मुख्यतः विदेशी मुसलमानों ने यही कार्य बारम्बार किया है। चीन तथा पाकिस्तान ने तो वर्त्तमान युग में भी भारत पर आक्रमण किये हैं तथा पुनः इसी फिराक में रहते हैं।

(३) जो हमारी संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता को नष्ट कर हमें मन से दास बनाना चाहता है। अंग्रेजों ने यही कार्य किया है। हमारे स्वाभिमान को रौंद कर अपनी संस्कृति एवं सभ्यता यहाँ थोप दी।

(४) कुछ आक्रान्ता कत्लेआम करते हुए यहाँ पर आये। इनमें तैमूर लंग, औरंगजेब आदि का नाम प्रमुख है। उनका काम ही नरसंहार करना था। 'विश्व इतिहास की झलक' में जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं कि तैमूरलंग ने कैदियों की संख्या बढ़ने जाने पर एक लाख कैदियों का भी कत्लेआम करा दिया था। सामान्य जनता की तो कोई गिनती भी नहीं। आजकल आतंकवादी भी ऐसा ही करते हैं।

आजकल आतंकवादियों के साथ भी भारत में ऐसा ही व्यवहार किया जाता है। १०-२० वर्षों तक तो उनके अभियोग का ही निर्णय नहीं होता। कभी-कभी साक्ष्य के अभाव में उन्हें छोड़ भी दिया जाता है या उनके साथी आतंकवादी उन्हें बलपूर्वक छुड़ा लेते हैं। यदि किसी आतंकवादी को फाँसी दे भी दी गयी तो उसका विरोध करने वाले भी यहीं पर विद्यमान रहते हैं। आतंकवादियों को प्राप्त दण्ड के विरोध में बयान दिये जाते हैं। जून २०१५ में याकूब मेमन को फाँसी देने के समय भी यही हुआ। जब तक ऐसा होता रहेगा, देश से आतंकवाद समाप्त नहीं होगा। इसीलिए तो वेद कहता है कि ऐसे दुष्ट लोगों को दाल-सब्जी की

भाँति रांध देना चाहिए अर्थात् समूल नष्ट कर देना चाहिए। मनु भी ऐसा ही कहते हैं—

आततायिनम् आयान्तं हन्यादेवाविचारयन्। —मनुस्मृति

अर्थात् आततायी व्यक्ति को तो बिना कुछ सोचे ही वध कर देना चाहिए, तभी राष्ट्र में शान्ति रह पायेगी।

वेद इन चारों प्रकार के शत्रुओं को उसी प्रकार समूल नष्ट करने की आज्ञा देता है जैसे कि पतीली में चूल्हे पर दाल-सब्जी रांधते हैं। हमारे शासकों ने ऐसी भूलें की हैं कि स्वयं वीर होते हुए भी आक्रमणकारी शत्रु को छोड़ दिया। उसे समूल नष्ट नहीं किया। पृथिवीराज इसका प्रमाण है। महान् शक्तिशाली होते हुए भी १६ बार आक्रमण करने वाले मोहम्मद गौरी को बार-बार छोड़ता रहा। परिणाम क्या हुआ कि १७वीं बार जीतकर वह पृथिवीराज को बन्दी बनाकर अपने साथ ले गया तथा उसकी आँखें निकलवा दीं। यदि पृथिवीराज ने वेद का यह आदेश माना होता, तो यह दुर्दशा न होती। एक अन्य मन्त्र में भी यही कहा गया कि मातृभूमि को क्षीण करने वाले शत्रुओं को यह पृथिवी उसी प्रकार दूर फेंकती आयी है, जैसे कि घोड़ा अपने ऊपर लगी धूल को झाड़ कर फेंक देता है। राष्ट्रपति को भी दुष्टों को इसी प्रकार दूर कर देना चाहिए—

अश्व॑ इ॒व रजो॑ दुधु॒वे वि ताञ्जना॒न्य आक्षि॑यन्पृ॒थि॒वीम्।

—अथर्व० १२।१।५७

अन्य शत्रु—आक्रमणकारी शत्रुओं के अतिरिक्त चोर, डाकू, लुटेरे, आतंकवादी भी राष्ट्र की जनता को पीड़ित करते रहते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि ऐसे दुष्ट जहाँ भी विचरण करते हों, उन सभी मार्गों को तस्कररहित तथा कल्याणकारी बना दे—

अनमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड। —छ० १२।१।४७

इस प्रकार चाहे बाह्य शत्रु हों, चाहे आन्तरिक उपद्रवकारी हों, सभी को नष्ट करके प्रजा को सुखी करने का दायित्व राष्ट्राध्यक्ष का है। इसी सम्बन्ध में एक अन्य मन्त्र (१२।१।२८) इस प्रकार है—

प्रजाजनों की सुरक्षा—

उ॒दीरा॑णा उ॒तासी॑ना॒स्तिष्ठ॑न्तः प्र॒क्राम॑न्तः।
प॒द्भ्यां द॑क्षिणस॒व्याभ्यां॒ मा व्य॑थिष्महि॒ भूम्या॑म्॥

अर्थात् हे मातृभूमि! हम उन्नति करते हुए, बैठे हुए, खड़े हुए तथा आगे गति करते हुए, कभी भी व्यथित न हों। यह राष्ट्राध्यक्ष का कर्त्तव्य है कि प्रजा को किसी भी अवस्था में कोई कष्ट न हो। सुरक्षा के साथ-साथ प्रजा के पास घृत, दुग्ध, अन्न तथा अन्य पुष्टिकारक पदार्थ भी यथेष्ट मात्रा में हों। इस सम्बन्ध में वेद (१२।१।२९) कहता है—

ऊर्जं॑ पु॒ष्टं बिभ्र॑तीमन्नभा॒गं घृ॒तं त्वा॒भि नि षी॑देम भूमे।

अर्थात् शक्ति तथा पुष्टिकारक अन्न एवं घृत आदि पदार्थों को धारण करने वाली भूमि पर हम बैठें।

धर्म—सुरक्षा तथा खाद्य सामग्री के साथ-साथ धर्म भी राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। बिना इसके प्रजा का नियन्त्रण हो नहीं सकता। धर्म के अन्तर्गत दोनों तत्त्व सम्मिलित हैं। राजकीय नियम तथा नैतिक नियम। इन दोनों का पालन राष्ट्रवासियों को करना चाहिए। इसीलिए १२।१।१७ में पृथिवी को 'धर्मणा धृता' कहा गया है।

पुत्र का कर्त्तव्य—मातृभूमि से इतनी अपेक्षा करने वाले उसके पुत्रों-राष्ट्रवासियों का मातृभूमि के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसके लिए समस्त प्रजा कहती है—'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम' (१२।१।६२) अर्थात् हे मातृभूमि! हम तेरे लिए बलि देने वाले बनें। धन तथा जीवन दोनों ही मातृभूमि को बलि चढ़ाने पड़ते हैं। तभी मातृभूमि हमारे लिए सुख दायित्व होगी। हम मातृभूमि से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं, किन्तु उसकी पूर्ति नहीं करते। वेद कहता है कि मिट्टी खोदकर या वृक्ष आदि काट कर मैं जो भी तुम्हारी हानि करूँ, उसकी पूर्ति भी शीघ्र ही कर दूँ। मन्त्र इस प्रकार है—

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। (१२।१।३५)

इस प्रकार की भूमि पर मैं सर्वथा हानिरहित किसी के द्वारा न मारा गया तथा अक्षत सभी प्रकार से पूर्ण होकर रहूँ—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (मं० ११)

इस प्रकार अथर्ववेद के भूमिसूक्त में आदर्श राष्ट्र का विशद् चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही अन्य सूक्तों में राज्य प्रणाली राजा का निर्वाचन, सभा, समिति, समाधान की घोषणा, पुरोहित का दायित्व आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यथा—

(१) **निर्वाचन**—अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के पञ्चम सूक्त में राजा के निर्वाचन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वहाँ पर कहा गया है कि मनीषी तथा शिल्पी आदि के रूप में जितने भी प्रजाजन हैं, वे सभी पर्णमणि के माध्यम से राजा का निर्वाचन करते हैं। 'त्वां विशो वृणतां राज्याय'[1] कहने से स्पष्ट है कि समस्त प्रजा ही मिलकर राजा का निर्वाचन करती है।

सभा-समिति तथा राजा—राजा प्रजा का पालक होने के कारण प्रजापति है। उसने शासन को चलाने के लिए विभिन्न प्रकार की सभा तथा समितियों का निर्माण किया है। लोकसभा तथा राज्यसभा का भी यहाँ सभा तथा समिति पद से ग्रहण किया जा सकता है। अथर्ववेद में इनको प्रजापति की दुहिता कन्या कहा है। सम्भवतः इसीलिए कि राजा

१. त्वां विशोवृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। (अथर्व० ३।४।१)

ही सभा तथा समितियों का जन्मदाता है। अथर्ववेद ७।१२।१ में कहा है—'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।' सभा-समिति तथा राजा का सम्बन्ध परस्पर कैसा हो इसे व्रात्यसूक्त में इस प्रकार कहा गया है—

स विशोऽनुव्यचलत्। —अथर्व० १५।९।१

अर्थात् राजा अपने प्रजाजनों के अनुकूल हो। इसी प्रकार 'सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्' (मं० २) अर्थात् सभा, समिति, सेना तथा राज्यकोष भी राज्य के अनुकूल होने चाहिएँ। यदि ऐसा नहीं होगा, तो राज्य का प्रबन्ध ठीक प्रकार नहीं चल पायेगा। सभा तथा समिति यदि राजा के अनुकूल नहीं है, तो वह उसे पदच्युत कर सकती है। इसी प्रकार यदि सेना राजकोष राजा के अनुकूल नहीं है, तो राजा=राष्ट्रपति के विरुद्ध विद्रोह भी कर सकती है। पाकिस्तान में सेना के विद्रोह का फल कई राष्ट्रपतियों को भुगतना पड़ा है। भारत में राष्ट्रपति ही सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता है। यहाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई।

राज्य के विभिन्न विभाग एवं अधिकारी

अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध वागम्भृणी सूक्त ४।३० में वागम्भृणी के माध्यम से राज्य के विभिन्न-विभिन्न विभागों के अधिकारियों का वर्णन विस्तार से वेद की परिभाषा शब्दावलि में किया गया है, जो इस प्रकार है—

	वेद में पठित नाम	इनके अर्थ	इनके विभाग
१.	रुद्राः	वीर सैनिक	सुरक्षा विभाग
२.	वसुः	धनिक	वित्त विभाग
३.	आदित्य	प्रकाशक	गुप्तचर विभाग
४.	विश्वेदेवा	सामान्य कर्मचारी	सामान्य शासन
५.	मित्र	विद्वान् तथा मित्र	शिक्षा विभाग
६.	वरुण	प्रधान प्रशासक	पुलिस एवं न्याय विभाग
७.	इन्द्र	राजा, विभिन्न अधिकारी	राज्य विभाग
८.	अग्नि	अग्नि	विद्युत् विभाग
९.	अश्विनौ	वैद्य	स्वास्थ्य विभाग
१०.	त्वष्टा	शिल्पी	सार्वजनिक निर्माण विभाग
११.	पूषा	पोषण कार्य	खाद्य विभाग
१२.	सोमः	आह्लादक, ओषधी	कृषि विभाग
१३.	भग	ऐश्वर्य	समाज कल्याण विभाग

राजा के साथ इन सबका सामंजस्य

उत्तम राज्य व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है उक्त सभी अधिकारी भी राज्य के अनुकूल हो। उसके साथ सामंजस्य रखते हों। राजा इन सब को बुलाते हुए कहता है—

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः॥

—अथर्व० ६।७३।१

अर्थात् हे वरुण आदि अधिकारी जनो! तुम्हें एक ही समय में राज्याधिकार प्राप्त हुआ है। अतः सभी सजाताः हो। तुम लोग राज्य की समृद्धि के लिए मिलकर उपस्थित हो गये।

उक्त अधिकारियों के मन में पृथक्-पृथक् संकल्प होते हैं, जो परस्पर विरुद्ध भी हो सकते हैं। ऐसी दशा में राष्ट्र उन्नति नहीं करेगा। अतः राष्ट्राध्यक्ष उन सभी के संकल्पों को एक करता हुआ कहता है—

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥

—अथर्व० ६।७३।२

अर्थात् तुम्हारे हृदयों में जो भी शक्ति तथा मन में जो भी संकल्प हैं, उन सबको मैं इकट्ठा करता हूँ। राष्ट्र को विभिन्न रूप में दी जाने वाली हवि ही इस एकत्रीकरण में हेतु है। तुम्हारी प्रेमासक्ति मेरे प्रति रहे।

प्रजा भी अनुकूल हो—राजा तथा प्रजा में भी सामंजस्य बना रहना चाहिए। इसीलिए राजा कहता है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥

—अथर्व० ६।७४।१

हे प्रजाजनों! तुम्हारे शरीर, यज तथा व्रत परस्पर विरुद्ध न होकर परस्पर अनुकूल हो। ज्ञानी विद्वान् तुम सबको संगत करें तथा राष्ट्र का ऐश्वर्य तुम्हें परस्पर संगत करे।

राज पुरोहित की घोषणा—अथर्ववेद ३।१९ में पुरोहित के नाम से कुछ मन्त्र पठित हैं। इसका अर्थ वह राजपुरोहित भी हो सकता है जो समय-समय पर राजा को उच्च प्रेरणा देता रहता है। अथवा 'पुर एनं दधति' पुरोहित की यास्ककृत इस निरुक्ति के आधार पर राजा ही पुरोहित है, क्योंकि प्रजाजनों ने उसे अपनी रक्षा के लिए आगे किया है। वह कहता है—

मेरा यह ब्रह्म बल, क्षात्र बल, वीरता तथा शारीरिक बल, तीक्ष्ण, जरारहित तथा विजयी हों। इन प्रजाजनों के ओज, वीरता, शारीरिक बल

तथा प्रजा-जनों के द्वारा राष्ट्रयज्ञ में दी गयी हवि से मैं शत्रुओं के बाहुओं को काटता हूँ। उनकी कर्मशक्ति को नष्ट करता हूँ—

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥

—अथर्व० ३।१९।२

जो शत्रु हमारे ज्ञानी तथा धनपतियों से द्वेष रखते हैं, वे अनवत हो जाएँ। मैं वेदोक्त विधि द्वारा शत्रुओं को नष्ट करता हूँ—

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥

—अथर्व० ३।१९।३

प्रजा द्वारा सेना का समर्थन—राष्ट्र का क्षात्रबल तभी अपना कार्य कर सकेगा, जबकि जनता भी उनको समर्थन दे। पुरोहित इसी दिशा में यत्न करते हुए कहता है—

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥

—अथर्व० ३।१९।५

मैं उत्तम वीरों वाले राष्ट्र को तथा युद्ध साधनों को वृद्धियुक्त करता हूँ। राष्ट्र का क्षत्रबल जयनशील तथा परिपुष्ट हो। इनके संकल्प की रक्षा सभी प्रजाजन करें। इस प्रकार उत्साहित होकर सैनिकों को उत्साह प्रदान करते हुए राजा कहता है—

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥

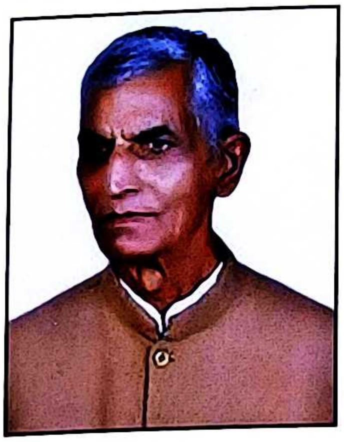
—अथर्व० ३।१९।७

हे सैनिकों! तुम युद्धभूमि में जाओ तथा विजय प्राप्त करो। तुम्हारे बाहु तथा आयुध-तीक्ष्ण हों। तुम निर्बल शत्रुओं को मारो।

इस प्रकार अथर्ववेद में सभी विषयों से सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त रूप में विद्यमान है तथा न ही यह वेद अन्य वेदों से अर्वाचीन या कम महत्त्व वाला है। इतना स्पष्ट वर्णन होने पर भी अथर्ववेद को परवर्ती तथा जादू-टोने आदि का वेद मानना दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कौशिक ने अथर्ववेदीय मन्त्रों का विनियोग इस प्रकार के गलत कार्यों के लिए किया है जिनका अथर्ववेद में उल्लेख भी नहीं है। उसके आधार पर ही विदेशी विद्वानों ने अथर्ववेद के विषय में विविध भ्रान्तियाँ फैलायी है, जो सर्वथा निर्मूल हैं।

—:०:—

डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार : एक परिचय



जन्म : जिला–मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

शिक्षा : स्नातक, गुरुकुल झज्जर एवं गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उपाधि : वेदालङ्कार, व्याकरणाचार्य, वेदाचार्य, एम.ए., पी–एच.डी., काव्यतीर्थ (लब्धसुवर्णपदक), डी.लिट्.।

साहित्य व रचनाएँ : १४ पुस्तकों का लेखन तथा ४ का सम्पादन किया है। इनमें प्रमुख हैं–

1. वेदों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन (सम्पादन); 2. उपनिषदों में योग विद्या (पुरस्कृत); 3. काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन (पुरस्कृत); 4. काशिका हिन्दी व्याख्या (पुरस्कृत); 5. क्या अथर्ववेद में जादू टोना है?; 6. वैदिक दर्शन; 7. वैदिक संस्कृति एवं आर्यसमाज; 8. वैदिक चिन्तन (सम्पादन); 9. ध्यान एवं उपासना; 10. मन की अद्भुत शक्तियाँ एवं स्वरूप; 11. वेदों में क्या है?; 12. अथर्ववेद में क्या है?; 13. पातञ्जलयोगदर्शन : एक अध्ययन; 14. वैदिक इतिहास विमर्श; 15. वैदिक शब्दार्थ विमर्श।

पुरस्कार एवं सम्मान :

1. उ०प्र० संस्कृत अकादमी, लखनऊ द्वारा तीन पुस्तकों पर तथा संस्कृत अकादमी दिल्ली द्वारा उपनिषदों में योग विद्या पुस्तक पर 7000/– श्रीफल तथा प्रशस्तिपत्र आदि देकर सम्मान किया गया। काशिका की हिन्दी व्याख्या पर उ०प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा 1100/– रुपये के पुरस्कार तथा प्रशस्तिपत्र से सम्मानित।
2. आर्यसमाज पानीपत द्वारा पण्डित केदारनाथ दीक्षित पुरस्कार से सम्मानित।
3. रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ द्वारा युधिष्ठिर मीमांसक पुरस्कार से सम्मानित।
4. आर्यसमाज, सरस्वती विहार, दिल्ली द्वारा अभिनन्दन।
5. आर्यसमाज शान्ताक्रुझ, मुम्बई द्वारा वेद–वेदाङ्ग पुरस्कार से सम्मानित।

सम्प्रति : आप कुशल वक्ता, सिद्धहस्त लेखक तथा प्रखर चिन्तक हैं। वेद, व्याकरण तथा योग आपके प्रिय विषय हैं।

प्रकाशक:

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, ९८९९६५१५०३
E-mail : smcolour@gmail.com